युग सेतु

वर्ष 10 अंक 105 अगस्त 2020

वेबसाइट : www.yugsetu.com
&
www.yugsetu.simplesite.com

संपादक
ओम प्रकाश शर्मा

कार्यालय
जी-21, प्रथम तल, लक्ष्मी नगर
दिल्ली-110092
दूरभाष-011-22040692

संपर्क कार्यालय
873, सेक्टर-21सी, फरीदाबाद
हरियाणा-121001
दूरभाष-9013379808

ई.मेल : yugsetu@gmail.com

स्वामी, प्रकाशक एवं मुद्रक ओम प्रकाश शर्मा द्वारा, जी 21 लक्ष्मी नगर, दिल्ली से प्रकाशित एवं ग्राफिक प्रिंट, 383 एफ.आई.ई.पटपड़गंज इंडस्ट्रीयल एरिया, दिल्ली 110092 से मुद्रित।

अंदर के पन्नों में .....

संपादकीय ②

दुश्मनों के संग दोस्तों से असंग ④

कोरोना और बिहार विधानसभा चुनाव ⑤

तकनीकी युग में न्यायालय ⑧

सिकुड़ती सुभीता बढ़ते हौसले ⑧

14 अगस्त 1947 की वह आधी रात ⑩

सलाखों के पीछे से ⑬

आजादी और मानवाधिकार ⑮

वर्तमान स्वतंत्रता की हूक-हाय ⑰

आंदोलन की शृंखलाएँ ㉓

युग सेतु में लेखकों के प्रकाशित आलेखों के विचारों से संपादक या प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।
किसी भी विवाद का निबटारा दिल्ली न्यायालय में होगा।

संपादकीय

कोरोना, रोजगार और स्वदेशी का सवाल

कोरोना-कोविद 19 के प्रकोप की वजह से नौकरी-व्यवसाय द्वारा आजीविका चलाने वालों पर सबसे ज्यादा मार पड़ी है। विश्वव्यापी लोकबंदी के बीच स्वास्थ्य सेवाओं, मास्क-वेंटिलेटर निर्माण और ऑनलाइन कार्य के कुछ रोजगारपरक अवसर सृजित हुए हैं, किंतु सरकारी कार्यालयों के सिवा निजी संस्थानों, उद्यमों में पूर्णतः या अंशतः कारोबार घटा है। शराब के धंधे को अपवादस्वरूप छोड़ दिया जाए तो विलासितापूर्ण, मनोरंजनपरक, शौकिया काम-धंधे या तो ठप्प हैं या न्यूनतम स्तर पर किसी तरह चल रहे हैं। अमेरिका जैसे विकसित देश में आसन्न संकटों के कारण बेरोजगारी की विषम स्थिति उत्पन्न हो गई है, साढ़े तीन करोड़ से अधिक लोगों ने बेरोजगारी भत्ते के लिए आवेदन किया है। वह भी तब, जब बड़ी संख्या में प्रवासी लोग वहाँ से अपने मूल देश को लौट गए हैं। भारत में ही 'वंदे भारत' मिशन के तहत हजारों लोग वापस आए हैं। अमेरिका या भारत ही नहीं, पूरे विश्व में कमोबेश कामगारों के लिए तात्कालिक रूप से नियमित रोजगार के अवसर काफी घटे हैं। हालाँकि लिखने-बोलने वालों ने इस दरम्यान सृजनात्मकता का कीर्तिमान स्थापित किया है। लेखन और वेबीनार में सहभागिता द्वारा लेखकीय और वक्तृत्व कला में भरपूर निखार आया है, पर इन सबसे आजीविका चलने से रही। पूरे विश्व की बात अलग है, आधुनिक भारत में कुछ गिने-चुने लोग ही होंगे, जो लिखकर या व्याख्यान देकर भरण-पोषण चला पाते होंगे! जितने लेखक-वक्ता हैं, वे किसी-न-किसी नौकरी, व्यवसाय से जुड़े हैं और कई स्वभाववश या मजबूरी के कारण पैसों के लिए अशैक्षणिक-अलेखकीय कार्यों में संलग्न हैं। आर्थिक निश्चिंतता के कारण इत्मीनान से लिखने-बोलने का समय उपलब्ध होता है, कलात्मकता का उत्कर्ष होता है। विद्वता, वक्तृता व लेखन तभी झमकता है, जब मानस चिंतामुक्त हो आर्थिक मोर्चे पर। जो जितना बड़े पद पर है, उसकी विद्वता-बुद्धिमत्ता की उतनी ही ख्याति की व्याप्ति है।

यद्यपि कला जगत के अन्य कार्यों नृत्य-संगीत, फिल्म, नाटक, हर्षोत्सव, सौंदर्य संसाधन से जुड़े व्यवसायों में रुकावट और गिरावट के कारण तंगी है। इस कारण भी कुछएक कलाकारों ने आत्महत्या करने जैसा दुस्साहस भरा कदम उठाया है। जिम, होटल, उत्सव आयोजन स्थल, सभागार, सामुदायिक भवन, शादी-विवाह, भोज-भात, मॉल आदि से लाखों की जीविका चलती है, इनका कारोबार भी लगभग शून्य के कगार पर आ चुका था और कई अभी भी उसी स्थिति में हैं। जिन शैक्षणिक-अकादमिक संस्थानों ने व्यावसायिक रूप धारण कर लिया है, उन संस्थानों, कोचिंग केंद्रों, प्रशिक्षण केंद्रों के बंद होने के कारण स्वाभाविक रूप से खामियाजा कर्मचारियों को भुगतना पड़ा है; उन्हें नौकरी तक से हाथ धोना पड़ा या फिर वेतन से वंचित होना पड़ा है। आमदनी न होने के कारण स्ववित्तपोषित संस्थानों के अस्तित्व पर संकट गहराया है। स्पष्ट है कि इन सबका असर बाकी क्षेत्रों पर पड़े बिना नहीं रह सकता। रोजगार के सारे उपक्रम कमोबेश एक-दूसरे से गुँथे हैं, इसलिए किसी एक की अच्छी-बुरी स्थिति दूसरे को प्रभावित किए बिना नहीं रहती। कोरोना और लोकबंदी के साथ ही नहीं, इससे काफी पहले से अर्थव्यवस्था में मंदी वैश्विक स्तर पर दर्ज की गई है, चाहे जमीन-जायदाद (प्रोपर्टी) का मामला हो या निर्माण (कंस्ट्रक्शन) कंपनियों का, वाहन उद्योग हो या दूरसंचार का क्षेत्र, सबमें पहले से मंदी छाई थी और कर्मचारियों की छँटनी शुरू हो गई थी, फिर भी कमोबेश काम चलता था। कोरोना और लोकबंदी के कारण इनका व्यापीकरण हो गया और लगभग सारे ही क्षेत्र मंदी की चपेट आ गए। स्वाभाविक है कि जब वेतन नहीं मिलता तो खरीदारी भी कम होती है, खरीदारी कम होगी तो बिक्रेता की बचत में घटोतरी होगी और इसका असर उत्पादन पर पड़ेगा, उत्पाद की खपत कम होगी तो निर्मिति कम होगी और निर्मिति कम होगी तो कर्मचारियों को कम करना ही पड़ेगा। सारे कार्य सूक्ष्मतः-स्थूलतः एक-दूसरे को प्रभावित कर रहे हैं।

कोरोना के कारण मध्य व निम्न वर्ग अधिक प्रभावित हुआ है। जो बेरोजगार और निठल्ले रहे हैं, वे तो खैर हैं ही, लेकिन जो लोग निजी क्षेत्र के व्यवसाय या नौकरी में कार्यरत थे, वे बड़ी संख्या में बेकार हुए हैं। अकेले भारत में करोड़ों लोग रोजगार से वंचित हुए हैं, इसलिए सरकार की ओर से बुनियादी आवश्यकता भोजन-अनाज आदि का प्रबंध कराया जा रहा है। लेकिन इससे आगे कैसे सहायता की जा सकती है - इस पर विचार होना चाहिए। जो लोग काम कर सकते हैं, पर बेरोजगार हैं और उनकी उम्र साठ-पैंसठ साल से कम है, उन्हें अमेरिका, इटली, जर्मनी, फ्रांस, नार्वे आदि देशों की तरह यहाँ भी बेरोजगारी भत्ता

दिया जाना चाहिए और उसके एवज में सरकार उनकी योग्यता के हिसाब से काम ले। उन्हें उस काम का स्वतंत्र जिम्मा सौंपा जा सकता है, जिसके लायक वे हैं। अनाप-शनाप सरकारी योजनाओं में अरबों-खरबों रुपए व्यवस्था की भेंट चढ़ जाते हैं, जिनमें बिचौलिया तत्त्व अधिक फायदा उठा लेते हैं और जो वास्तव में जरूरतमंद हैं, वे लाभ से वंचित रह जाते हैं। इस तरह इनके माध्यम से कोई उल्लेखनीय कार्य संपन्न नहीं हो पाता। गौरतलब है कि इटली में बेरोजगारों को 90 हजार रुपए प्रति माह, फ्रांस में 50 हजार रुपए प्रति माह, जर्मनी में 30 हजार रुपए प्रति माह, जापान में 15 हजार रुपए प्रति माह 65-66 साल की उम्र तक मिलता है। इस क्रम में योग्यता व जरूरत के अनुरूप कार्य व रोजगार के अवसर तलाशे जा सकते हैं और कार्य के अनुरूप लोगों को ढाला जा सकता है। इस प्रकार जो विशाल मानव संपदा है, उसका दोहन होगा। जहाँ मानवीय शक्ति का सदुपयोग नहीं होता, वहाँ दुरुपयोग की संभावना बढ़ती है और श्रम-सामर्थ्य कुंठित होकर खत्म हो जाता है। सदा से ऐसी अनिष्टकारी शक्तियाँ भी कार्य करती रही हैं, जिनका वजूद एवं स्वार्थ सक्षम मानव संपदाओं को अक्षम बनाने और कुछ न करने देने पर ही टिका है, इसीलिए कर्मपरक-रोजगारपूर्ण मानव संपदा के सदुपयोग की नीति निर्धारित नहीं हो पाती।

कोरोना के अतिरिक्त भारत और चीन के बीच सीमा विवाद के कारण भारत में चीनी सामानों के बहिष्कार की स्थिति बनी है। लंबे समय से उन क्षेत्रों में भी विदेशी वस्तुओं का वर्चस्व स्थापित है, जिन क्षेत्रों में उसकी आवश्यकता नहीं थी। उनके समानांतर स्वदेशी माल उपलब्ध हैं, बेशक वह कहीं महँगा तो कहीं गुणवत्ता में उन्नीस-बीस ही क्यों न हो; लेकिन शोचनीय है कि विदेश से आए माल यदि यातायात खर्च के बावजूद सस्ते पड़ते हैं तो फिर भारत में क्यों नहीं सस्ते उपलब्ध हो सकते और गुणवत्ता भी क्यों नहीं विश्वसनीय व विश्वस्तरीय हो सकती? इससे समाजवादी और पूंजीवादी व्यवस्था का फर्क भी पता चलता है। फिर बाहर से आईं सारी चीजें सस्ती और अच्छी ही रहती हैं क्या? जाहिर है कि नहीं। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के समय से बाह्य वस्तुओं का बहिष्कार और स्वदेशी को अपनाने पर जोर दिया गया, किंतु वैश्विक दुनिया और उदारीकरण के तहत विश्व बाजार की परिणति के अंतर्गत अब यह अव्यावहारिक लगता है। फिर भी इसमें शक नहीं कि आत्मनिर्भरता, रोजगार और स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप स्वदेशी उत्पाद ज्यादा उपयुक्त बैठता है। दूसरी ओर, दुनिया की दूरी में कमी बाजार के कारण ही नहीं आई, बल्कि उत्पादकता के क्षेत्र में पहले से है, उसकी तकनीक आती-जाती रही है। जो उपलब्ध नहीं, उसे अपने यहाँ बनाने और बाहर से मँगाने में निषेध नहीं होना चाहिए। इस दृष्टि से लगभग अस्सी-पच्चासी प्रतिशत उत्तम सामान स्वदेश निर्मित उपलब्ध हो सकता है और पंद्रह-बीस प्रतिशत के लिए ही विदेशों से मँगाने की जरूरत रह जाती है। चीन से जितनी धनराशि का सामान आता है, उनसे एक-चौथाई का ही भारत से वहाँ जाता है। आयात-निर्यात के सामान्य नियम के अंतर्गत सभी देशों की कोशिश ज्यादा-से-ज्यादा निर्यात और कम-से-कम आयात की होती है, पर यह भी सच है कि सब जगह सब कुछ उत्पादित नहीं होता। अधिक अच्छा और आवश्यक चीजों के लिए पूरे विश्व बाजार को खुले रखना आधुनिक सभ्यता की अनिवार्यता है। जहाँ तक चीन से आने वाले सामानों का सवाल है, उनके बहिष्कार की बजाय उनके आने पर ही छन्ना लगाना चाहिए - सैनिक शहादत या सीमा विवाद का इंतजार किए बिना। स्वाभाविक है, इसका असर यहाँ से भेजे जाने वाली वस्तुओं पर भी पड़ेगा और उन्हें भी निरोध का सामना करना पड़ेगा। निवेश-विनिवेश, आयात-निर्यात के ज्यादा अनुकूल यह विचार नहीं है, पर जहाँ स्वदेशी सामान उपलब्ध हो सकता है, वहाँ विदेश से मँगाने की मंशा क्यों?

बहरहाल, कोरोना के संकट के कारण रोजगार के अवसर व तरीकों को बदला जा रहा है, इसलिए सामान्य जिंदगी का पटरी पर लौटना तय है। रोजगार-व्यवसाय पर ज्यादा दिन तक संकट नहीं रहने वाला। कोरोना के साथ चलते हुए कार्य के नए अवसर सृजित होंगे और परंपरागत कार्यों को नए ढंग से निबटाने के सिलसिले में रोजगार भी निर्मित होंगे। लेकिन वैश्विक दुनिया की नई आवश्यकताओं के आलोक में न केवल विचार-विमर्श जरूरी है, वरन् खोज-अनुसंधान के साथ तदनुरूप कार्य भी अपेक्षित है। यही नहीं, भावी चुनौतियों और समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में तत्पर रहना मानवीय युगधर्म है। इन्हीं सब कार्यों में मस्तिष्क की ऊर्जा शक्ति खपाने की आवश्यकता है। इनको संपन्न करते हुए जीविका भी चल सकती है। रचनात्मक-सृजनात्मक कार्य जब संपन्न होते हैं तो उनसे विश्व समाज की दिशा तय होती है, लेकिन दुर्भाग्य से ऐसे कार्यों में अवरोध खड़े करके नकारात्मक माहौल तैयार किया जाता है। पारिश्रमिक और मुनाफे पर ध्यान के अतिरिक्त कार्य की व्यक्तिगत, मानवीय, सामाजिक और वैश्विक उपादेयता का मूल्यांकन ज्यादा जरूरी है। कार्य और उसका परितोष पहले है और पारिश्रमिक द्वितीयक तो है, किंतु सवाल यह है कि जीविका चले बिना कोई सृजनात्मक कार्य संपन्न हो सकता है क्या?

दुश्मनों के संग, दोस्तों से असंग

भले ही वायरसों के विषय में लंबा विवाद चलता रहा हो कि ये सजीव होते हैं या निर्जीव, पर विष के अणु होने के कारण ये इंसान के दुश्मन हैं - इसमें कोई शक नहीं। हाल में आया कोरोना विषाणु भी दुश्मन ही है, पर इसी के संग रहना सीखना होगा, क्योंकि एक बार जब इंसानी देह में समागम हो चुका है तो इतनी जल्दी यह जाने से रहा। एक देह से दूसरी, दूसरी देह से अन्यान्य में प्रजनित होकर पसरना इसकी फितरत है। जननिकता जैसे सजीवों वाले गुण रखने के बावजूद इसकी जनन-प्रक्रिया लोहे के जंग की तरह काम करती है, जो अपनी निर्जीवता में भी तीव्र तत्परता से फैलती है और कितने ही सजीवों के लिए प्राणघातक सिद्ध होती है। इसके चले जाने का एहसास काया के निरोग होने के साथ बेशक हो जाता है, पर आने का अस्तित्वबोध तब तक नहीं झलकता, जब तक कि गहरी चिंता में छानबीन नहीं होती या फिर शरीर के जिस-तिस हिस्से में उसका अंतर्बाह्य कुप्रभाव परिलक्षित नहीं होता। अति सूक्ष्मता के कारण यह अदृश्य है, पर आश्रय के आंगिक अनुभावों में इसके लाक्षणिक असर दिखे बिना नहीं रहते। जब कभी लक्षण अप्रकट रह जाते हैं, तब समूचे शरीर को शून्य-सुन्न कर अपना विनाशकारी रूप दिखाते हैं। इस प्रकार शुरुआती बेचैनी के बाद 'शांत' कर देना ही इसका चरम लक्ष्य है, भले ही यह शांति परमशांति में तब्दील न हो पाए।

दुश्मन लंबे समय तक साथ रहे तो भले ही दुश्मनी खत्म न हो, पर उससे तालमेल बिठाकर चलने की बाध्यता बन जाती है, उससे शत्रुवत मित्रता स्थापित होती है और वह नुकसान भी कम पहुँचाता है। यदि नुकसान करता भी है तो उसका विध्वंसक प्रभाव बहुत कम होता है। साथ-साथ जीने के अभ्यास में झेलने की क्षमता अतीव बढ़ जाती है। दुश्मन के रूप में कोरोना का विषाणु इंसान में नया-नया शरीरस्थ हुआ है, अतः सामंजस्य बिठाने में समय लगेगा; आश्रय-देह के लिए ही नहीं, खुद कोरोना के लिए भी, तभी तो कहीं बुखार में, कहीं सर्दी-जुकाम में, कहीं खाँसी और सरदर्द में, तो कहीं फेफड़े-गले की कराह में उलझ गया है, ठौर की तलाश में मानस स्थिर नहीं कि आखिर उसे अपनी अनुकूल उपस्थिति कहाँ दर्शानी है। कायदे से जिस आतिथेय के यहाँ वह जबरन घुसा है, उससे ही उसे सही ठौर मिलना चाहिए, लेकिन इसकी करनी ऐसी है, जिससे कोई इसकी सहर्ष मेहमाननवाजी का साहस नहीं दिखाता, फलतः किसी प्रभाग का प्रभार नहीं मिलने पर इधर-उधर भटकना उसकी नियति बन चुकी है। हो सकता है घुमक्कड़ी ही उसकी प्रवृत्ति हो, पर वहाँ भी दूरस्थ केंद्र का होना जरूरी है। मौजूदा हालात में गले या फेफड़े में इसकी संभावना बनती दिख रही है।

दुश्मनों के नाम पर नाम रखने की परंपरा नहीं; वायरसों, रोग-व्याधियों के नाम पर भी नामकरण की परिपाटी नहीं मिलती; लेकिन कोरोना को अपनी तीव्र धमक से फट इतनी लोकप्रियता मिली है कि निशंक भाव से मनु की संतानों का नाम कोरोना कुमारी, कोरोना कुमार रखा जाने लगा है। कोरोना के बारे में कम लोगों को ही सही, पहले से जानकारी थी, पर इसके नाम पर नामकरण का रिवाज इंसानी शरीर में इसके प्रवेश के सामने आने और तबाही का मंजर देखने के दरम्यान अब जाकर शुरू हुआ है। एक तरफ जनसमाज भयग्रस्त है, तो दूसरी तरफ भय को प्रीति में बदलने के लिए इसके नाम पर नाम रखकर 'भय बिनु होहिं न प्रीत' का अनुपम अनुराग प्रस्तुत है। यही नहीं, इसकी करुणामयी आद्र छाया में पूजा-अर्चना के साथ लड्डू-मिष्ठान्न का भोग चढ़ाया जा रहा है, हालाँकि देवी-देवता रूप में फिलहाल इसे लोकमान्यता हासिल नहीं है, परंतु 1975 में आई हिंदी फिल्म के आधार पर संतोषी माता की दैवी प्रतिस्थापना तरह की इसकी संभावना को भी खारिज नहीं किया जा सकता। बेशक विज्ञान का युग है, पर जब तक प्रामाणिक इलाज मयस्सर नहीं होता, तब तक इस प्रकार प्रकृति में कोरोना के रोष को कम करने का अनुष्ठान-उपक्रम 'हारे को हरिनाम' की तरह चल सकता है। भगवान भगवान हैं, क्योंकि वे शक्तिमान हैं और शक्तिमान हैं, इसीलिए पूजनीय भी। ऐसे देवी-देवता की परिकल्पना नहीं, जो शक्तिशाली न हो, पर उसकी पूजा का विधान हो। इसी निकष पर उन लोगों की पूजा भी होती है जो देवी-देवता नहीं थे, पर शक्तिसंपन्न थे। कोरोना का वायरस चाहे सजीव न हो, पर है नुकसान पहुँचाने की अपूर्व क्षमता से लैस, इसलिए इसकी आरती उतारने में दिक्कत नहीं। प्राकृतिक संस्कृति में प्रत्येक चर-अचर वस्तु पूजनीय बनने की संभावनाओं से संयुक्त है। कोरोना तो एक प्रतीक होगा ईश्वरोपासना का, प्रतिमा की तरह; जो स्वयं अचर प्रस्तर होते हुए भी प्रतीक है भगवान का। इस वायरस को भी प्रकृति व ईश्वर का प्रतीक बनाया जा सकता है, जो दिखता नहीं, पर अपना प्रभाव दिखाता है; भगवान भी कौन-से दिखते हैं, पर उनके प्रभाव से कौन अछूता है?

कोरोना ने न केवल अपने साथ लोगों को ले जाने का सामर्थ्य दिखाया है, अपितु लाखों लोगों को अपने साथ ले भी गया है। यही नहीं, एक करोड़ से ऊपर लोगों को इसने अपनी जकड़ में ले लिया है, पर शायद इसके यान में इतनी जगह नहीं कि बहुत-सारे लोगों को एकसाथ ले जा सके। इसलिए धीरे-धीरे ढोने के क्रम में अनेकों को कुछ-कुछ दिन साथ रखकर छोड़ रहा है। आम लोग भी इसकी पकड़ से बचने के लिए हद तक सतर्कता रख रहे हैं, तरह-तरह उपाय रच रहे हैं। संस्थाएँ, सरकार, अस्पताल उसके फंदे में फँसे लोगों को निकलवाने के प्रयास में दिनरात एक करके लगे हैं, कर्मी अपनी जान जोखिम में डालकर डटे हैं। इन सारे चक्रव्यूहों को तोड़ते हुए कोरोना जिनको अपने साथ ले जाता है, उनके पार्थिव शरीर के साथ जाने की हिम्मत बहुत कम लोग ही कर पाते हैं। साहस यदि कर भी लें तो जाना संभव नहीं होता, कुछएक को ही क्रियाकर्म करना पड़ता है। कोरोना की क्रोड़ में जीते जी कराहते-सुस्ताते लोगों में भी यही स्थिति जहाँ-तहाँ दिख रही है। जिसके संग कोरोना है, उसे बाकियों का साथ छूटा है, वह असंग हो गया है। इसकी दस्तक पर हुई पूर्ण लोकबंदी से इस असंगता को व्यावहारिक जामा पहनाने में मदद मिली, हालाँकि यह हमेशा नहीं चल सकती, परिस्थितियाँ चाहे कैसी भी हों। कोरोना के भय और उससे उत्पन्न मजबूरी से भी ऊपर निस्संगता एक आत्मानुशासन का व्रत बन आत्म और अनात्म से जुड़ने का बढ़िया उपक्रम बन गया है।

कोरोना और बिहार विधानसभा चुनाव

इस साल के अक्टूबर-नवंबर महीने में बिहार विधानसभा का चुनाव होना है, लेकिन कोरोना-कोविद 19 के प्रकोप के चलते चुनाव पर संशय के बादल मँडरा रहे हैं। प्रमुख विपक्षी पार्टी राष्ट्रीय जनता दल का चुनाव स्थगित करने पर जोर है; दूसरी ओर, भारतीय जनता पार्टी ने चुनाव में दिलवस्पी दिखाई है और इसके लिए अपनी तैयारी भी। जनता दल (यू) के नेतृत्व में बिहार की सरकार चल रही है, अतः उसका प्रयास कोरोना को नियंत्रित करने का है, ताकि चुनाव लायक स्वस्थ माहौल बन सके। निश्चित रूप से चुनाव तभी संभव है, जब महामारी का खौफ खत्म हो अथवा न्यूनतम अवश्य हो जाए। तभी चुनाव आयोग और उसके कर्मचारी, राजनीतिक दलों के साथ आम जनता बेखौफ होकर चुनाव में शिरकत कर सकती हैं। सदी की सबसे बड़ी त्रासदी के तौर पर कोरोना की विभीषिका मुँहबाए खड़ी है, इसलिए एक तो महामारी को कम करने का भागीरथ यत्न जरूरी है और दूसरा, इसके संग चलते हुए सारे कार्यों को निष्पादित करना सीखना भी आवश्यक है। आगामी चुनाव भी इन्हीं दो ध्रुवों पर बहुत-कुछ निर्भर करेगा। जो लोग चुनाव टालने की बात कर रहे हैं, वे भी तैयारी में कोताही नहीं बरत रहे, क्योंकि भलीभाँति पता है कि चुनाव किसी की माँग की बजाय व्यापक प्रांतीय परिप्रेक्ष्य में ही स्थगित अथवा संपन्न होगा। गनीमत है कि इस साल आम चुनाव या किसी अन्य राज्य में विधानसभा चुनाव संभावित नहीं है, नहीं तो इस कारण ही न जाने कितने लोग संक्रमण की चपेट में आ जाते। एक-दो राज्यों में राज्यसभा चुनाव होगा, पर बड़े पैमाने के राज्यसभा या विधान परिषद के द्विवार्षिक चुनाव संपन्न हो चुके हैं। छिटपुट उपचुनाव भी समय-समय पर अपेक्षित होते हैं, पर उन्हें भी जितना टाला जा सकता है, टाला गया है। अगले साल कुछ राज्यों में विधानसभा चुनाव होंगे, किंतु तब तक ज्यादा संभावना यही है कि स्थिति संभल जाएगी और कोविद 19 का टीका भी उपलब्ध हो जाएगा। टीकांकित होने के साथ कुछ हद तक निश्चिंतता और सुरक्षा का वातावरण निर्मित होगा।

एक बार फिर अनेक राज्यों में, जिनमें बिहार भी शामिल है, लोकबंदी-लॉकडाउन लगाना पड़ा है, क्योंकि कोविद 19 के केस शीघ्रता से पसर रहे हैं। अगर बढ़ोतरी तीव्र से तीव्रतर होती रही तो लोगों को अपनी सेहत के बारे में ही सोचने लिए विवश होना होगा, चुनाव के विषय में बाद में। 12 करोड़ की जनसंख्या और आबादी के घने घनत्व के बावजूद बिहार में कोरोना का वह प्रकोप देखने को नहीं मिला, जो महाराष्ट्र, गुजरात, तमिलनाडु, दिल्ली आदि में देखने को मिला है। बड़े पैमाने पर प्रवासी कामगार भिन्न-भिन्न राज्यों से यहाँ तक कि उन राज्यों से पलायन करके पहुँचे हैं, जहाँ शुरुआती दिनों में ही कोरोना के केस बड़ी संख्या में मिलने लगे थे और आज भी उन्हीं राज्यों में कोरोना के 80-85 प्रतिशत तक सक्रिय मामले हैं। दिल्ली हो या मुंबई या पूरा महाराष्ट्र, चैन्नई हो या कोलकाता, गुजरात हो या राजस्थान, इन्हीं स्थानों से लाखों की तादाद में प्रवासी जन बिहार लौटे हैं। कोरोना का वायरस विदेशों से यहाँ के महानगरों में, फिर शहरों-नगरों और गाँव-कस्बों में फैला है। प्रवासियों का पलायन करके बिहार पहुँचना भी कोविद 19 के पसरने का एक बड़ा कारण हो सकता था!

कोरोना के कहर के बीच बिहार में चुनाव संपन्न कराना कम चुनौतीपूर्ण नहीं है, क्योंकि संसाधनों का अभाव है, गरीबी व बेरोजगारी है, जनाधिक्य है, प्रवासियों की समस्या गंभीर है। थोड़े-से कोरोना केस पर ही चिकित्सा सेवा चरमर्रा गई है,

अफरा-तफरी मचने लगी है, यदि केस ज्यादा बढ़ तो संभालना मुश्किल होगा, अतः वे सारे कारक जो परोक्षतः-प्रत्यक्षतः कोविद 19 को फैला सकते हैं, उन पर नियंत्रण आवश्यक है। विधानसभा चुनाव भी ऐसा ही एक कारक सिद्ध हो सकता है, अतः यह संपन्न हो या न हो; दूसरा, संपन्न हो तो कैसे संपन्न हो, ताकि कम-से कम कोरोना का दुष्प्रभाव हो - यह विचारणीय है। सवाल उठता है कि कुछएक हजार केस पर जब राज्यसभा और विधान परिषद के चुनाव टल सकते हैं, तो अब जब ग्यारह लाख मामले आ चुके हैं, बेशक साढ़े सात लाख ठीक भी हो चुके हैं, तब भी लाखों केस पर चुनाव क्यों नहीं स्थगित होने चाहिए? गत राज्यसभा और विधान परिषद चुनाव में जितने मतदाता थे, उनसे दर्जनों गुना अधिक विधानसभा चुनाव में प्रत्याशी होंगे। लगभग सात करोड़ मतदाता होंगे, हजारों की संख्या में उम्मीदवार और लाखों कर्मचारियों को मिलकर चुनाव निष्पन्न कराना होगा। बेशक बिहार में कोविद 19 की विस्तार दर अनेक राज्यों से कम है, पर राष्ट्रीय स्तर पर बढ़ोतरी के असर से बिहार ज्यादा दिनों तक पीछे नहीं रह सकता। यद्यपि कुछ देशों में कोरोना महामारी की भयंकर तबाही के बीच सामाजिक दूरी निभाते हुए चुनाव संपन्न हुए हैं। रूस में जहाँ केस तेजी से बढ़ रहे थे और लाखों में पहुँच गए थे, वहाँ भी बखूबी जनमत संग्रह हुआ और पुतिन को 2036 तक राष्ट्रपति बनाए रखने के पक्ष में लोकमत सामने आया। कई देशों में आपातकाल लगाया गया, तभी कोविद 19 पर पूर्णतः या अंशतः लगाम लगाना संभव हो सका। आपात स्थिति में चुनाव भारत में भी टलते रहे हैं और विदेशों में भी।

यदि स्थिति नहीं सुधरती है तो स्थगन के सिवा कोई रास्ता नहीं बचेगा, पर फिलहाल चुनाव टालने-न टालने पर अड़ जाना एकपक्षीय, पूर्वाग्रह भरा लग सकता है। कुछ दिनों में स्थिति की विकटता साफ हो जाएगी। चुनाव टालने का फैसला कभी भी झटके से लिया जा सकता है, पर बिना तैयारी के चुनाव कराने का फैसला कभी भी नहीं लिया जा सकता। इसके लिए दो-तीन महीने का समय अपेक्षित रहता ही है। कोविद 19 के कारण दिनचर्या, सामाजिक सरोकार, कार्यालयी कार्यशैली और राजनीतिक क्रियाकलाप सब बदल गए हैं। जिन दलों ने इसके अनुरूप अपनी गतिविधियों को संचालित करना नहीं सीखा है, उन्हें राज्य-राष्ट्र को पीछे ले जाने वाला माना जा सकता है। सामाजिक दूरी बनाए रखते हुए सामाजिक-राजनीतिक कार्य कैसे चल सकते हैं - इसके लिए नए-नए रास्ते बनते जा रहे हैं। इसी कड़ी में पैंसठ वर्ष से ऊपर के नागरिकों को डाक बैलेट के द्वारा मतदान करने की अनुमति मिली है। लोकतंत्र की शासनिक-प्रशासनिक इकाइयों के अस्तित्व की सार्थकता लोक को स्वस्थ, सक्षम, समृद्ध बनाने में निहित है और स्वस्थ, शिक्षित जनमानस से लोकतांत्रिक शासन सुदृढ़ बनता है। इसलिए अगर लगता है कि चुनाव कुछ समय तक स्थगित करने से जनता कोविद 19 से बच सकती है तो स्थगित करने से गुरेज नहीं होना चाहिए। अस्वस्थ वातावरण के चुनाव में उत्साहहीनता के कारण मतदान में काफी कमी होगी। चुनाव केवल जीतने वालों का उत्सव बनकर न रह जाए, अपितु हर्षोल्लास के साथ जनरुचि का विषय बन जाए - यह अत्यावश्यक है।

तकनीकी युग में न्यायालय

भारत के उच्चतम न्यायालय ने कानूनी नोटिस-सूचना तथा समन-बुलावा भेजने के लिए ईमेल, व्हाट्स एप्प, टेली मैसेंजर, फैक्स आदि को औपचारिक माध्यम के तौर पर उपयोग करने की स्वीकृति दे दी है। इन माध्यमों से भेजे जाने वाले संदेश वैध माने जाएँगे, बशर्ते अपरिवर्तनीय पीडीएफ फाइल के रूप में भेजे गए हों। सोशल मीडिया द्वारा भेजे गए नोटिस-समन को ईमेल से भी भेजना अनिवार्य होगा, ताकि संप्रेषित सूचना को रिकार्ड में सुरक्षित रखा जा सके। विशिष्ट चिह्न इंगित करेंगे कि प्राप्तकर्ता ने सूचना को देख लिया है या नहीं। कोरोना की भयावहता और लोकबंदी की दिक्कतों पर स्वतः संज्ञान लेकर अदालत ने सामाजिक दूरी बनाए रखने के ख्याल से यह निर्णय किया है। लोकबंदी के दौरान डाकघर के कार्यों का संचालन सुचारु न हो पाने के कारण नोटिस, समन आदि भेजना संभव नहीं हो पा रहा था। अतः हरियाणा, दिल्ली जैसे राज्यों में छिटपुट मामलों में यह प्रक्रिया चलने लगी थी। सोशल मीडिया समय बिताने और मनोरंजक जानकारी प्राप्त करने तक ही सीमित नहीं, बल्कि शादी कार्ड, पत्र, महत्त्वपूर्ण दस्तावेज आदि भेजने और प्राप्त करने का लोकप्रिय जरिया पहले ही बन चुका था। अब पल भर में पेशी के लिए समन, नोटिस भेजा जा सकेगा, हालाँकि इसके लिए व्हाट्स एप्प, मेल आदि में कुछ अलग व्यवस्था करने की आवश्यकता पड़ सकती है, नहीं तो नोटिस भेजा जाएगा और वह देख भी लिया जाएगा, पर ऐसा झलक सकता है कि वह देखा-पढ़ा नहीं गया। परंपरागत तरीके से भेजे जाने वाले समन को कई बार लेने वाला कोई नहीं होता, वारंट स्वीकार नहीं होता, इसलिए अदालत में लौट आता है। कुछएक बार पता की बजाय ईमेल और फोन नंबर ज्यादा स्थायी लगते हैं। ज्यादा स्थायी न भी हों, तब भी सदैव व्यक्ति के सन्निकट

रहने की संभावनाओं से ज्यादा युक्त तो होते ही हैं। स्थायी पते पर भी आदमी कौन-सा हमेशा बैठे रहता है। कुछ पेशेवर लोग अपना मोबाइल नंबर जल्दी-जल्दी बदल लेते हैं या जानबूझकर बंद कर देते हैं, लेकिन प्रायः लोगों के पास मोबाइल है और वे इसका उपयोग व्हाट्स एप्प, ईमेल, मैसेंजर आदि से संदेशों के आदान-प्रदान के लिए करते ही हैं। जो प्रयोग नहीं जानते, वे जरूरत लगने पर आसानी से सीख-जान सकते हैं, दूसरे का सहयोग लेकर जान-समझ सकते हैं।

कोरोना का भय हो या न हो, वैसे भी संचार माध्यमों की व्यापक पहुँच की स्थिति में इन माध्यमों से नोटिस-समन भेजना सुगम होगा। कोई मना भी नहीं कर सकता प्राप्त करने से, ज्यादा-से-ज्यादा संभावित नंबर ब्लॉक कर सकता है, पर इससे उसकी मंशा और इरादा का पर्दाफाश पहले ही हो जाएगा। इस प्रकार नोटिस-समन भेजने की लंबी प्रक्रिया से बचाव होगा, समय और व्यय की बचत होगी, साथ ही सरकारी श्रम की भी। जो तत्त्व समन-वारंट आदि को रुकवा देते थे और सीधे गिरफ्तारी या कुर्की जब्ती करवाने का इरादा रखते थे, उनकी भूमिका कम होगी। जिन लोगों को छल-प्रपंचवश सूचना, बुलावा, वारंट नहीं मिलते थे, उन्हें राहत मिलेगी। लेकिन इसके लिए याचिका में वादी-फरियादी और आरोपी के मोबाइल नंबर सम्मिलित करने होंगे। जरूरी नहीं कि आरोपियों के फोन नंबर, ईमेल आई.डी. आदि याचिकाकर्ता के पास हो ही, इसलिए उपलब्ध न होने की स्थिति में खोजबीन करनी होगी। यदि किसी प्रकार उपलब्ध न हो सके तो बुलावा भेजने की पूर्ववत प्रक्रिया अपनानी पड़ेगी। दूसरा रास्ता यह हो सकता है कि संबंधित पक्षों के नजदीकी थानों तक नोटिस-समन मेल, व्हाट्स एप्प, मैंसेंजर आदि के माध्यम से भेजे जाएँ और वहाँ से आरोपी तक पूर्व प्रक्रिया के तहत पहुँचाए जाएँ, तब भी काफी समय, श्रम और व्यय बचेगा। अदालती कार्यवाहियाँ ऑनलाइन और इंटरनेट से जुड़ चुकी हैं खासकर उच्चतम और उच्च न्यायालयों में। इसी प्रकार ज्यादातर प्रशासनिक इकाइयाँ भी इंटरनेट से जुड़ चुकी हैं और जहाँ जुड़ाव नहीं है, वहाँ जोड़ने का काम चल रहा है। जाहिर है कि व्हाट्स एप्प, ईमेल, मैसेंजर, फैक्स आदि से सूचना भेजने का प्रावधान बाध्यकारी नहीं, वरन् एक विकल्प के तौर पर मंजूर हुआ है। बेशक अभी गौण विकल्प है, पर बाद में यही प्रमुख माध्यम के रूप में अंगीकार हो सकता है।

न्यायालय का निर्णय बदलते सामाजिक संबंधों, आधुनिक प्रौद्योगिकी व तकनीक विकास और वर्तमान जरूरतों के आलोक में समयानुरूप है; सामाजिक संरचनाओं के नए संदर्भ में प्रगतिशील कदम है। आखिर तकनीक के अस्तित्व का औचित्य भी इसी में है कि इससे जीवन सुव्यवस्थित ढंग से चल सके, आधुनिक बन सके। प्रशासनिक, न्यायिक, शासनिक परंपरा राजतंत्र से आरंभ होकर लोकतंत्र के अंतर्गत कार्य कर रही है। भारत की आधुनिक शासन पद्धति बहुत-कुछ अंग्रेजी शासन-सत्ता की पृष्ठभूमि का विकसित रूप है। समय के अंतराल में अनेक परंपरागत पहलू अव्यावहारिक हो गए हैं, कुछ औपचारिक रूप से खत्म भी हो चुके हैं और कुछ के निकाले जाने की प्रक्रिया चल रही है। नई व्यावहारिकी, जिसका निर्माण तकनीक की क्रोड़ से हुआ है या जो तकनीक की ही उपज है, उसके बनिस्बत परंपरा-परिपाटी को नवीनतम प्रणाली में ढालना जरा कठिन है। जब मोबाइल-इंटरनेट का चलन नहीं था, तब व्हाट्स एप्प, फेसबुक आदि भी नहीं थे। अब तो इन्हीं के इस्तेमाल के लिए मोबाइल खरीदे जाते हैं, इंटरनेट की संबद्धता ली जाती है।

न्यायिक प्रक्रिया को सरल बनाने की आवश्यकता महसूस की जाती रही है। इस कड़ी में न्यायालय का नया निर्णय आगे ले जाने वाला सिद्ध हो सकता है, किंतु इन माध्यमों से संदेश हिंदी या क्षेत्रीय भाषाओं में भेजे जाएँ तब। उच्चतम न्यायालय से सूचना-बुलावे हिंदी-अंग्रेजी में भेजे जा सकते हैं, जबकि उच्च व जिला न्यायालयों से हिंदी या प्रांतीय भाषा में, ताकि संदेश पढ़ने वालों को कठिनाई न हो। बेशक अदालत का निर्णय सामाजिक दूरी को ध्यान में रखकर किया गया है, पर इसका सकारात्मक आयाम इसके अतिरिक्त भी है, जो ज्यादा महत्त्वपूर्ण हो सकता है। कोरोना का टीका उपलब्ध होने के साथ सामाजिक दूरी का प्रश्न भले ही अप्रासंगिक हो जाए, पर न्यायालयी प्रक्रिया की सरलता सदैव अपेक्षित रहेगी; आधुनिक तकनीक के इस्तेमाल में स्वभाषा-मातृभाषा की सुबोधता काम्य रहेगी। लंबे समय से चली आ रही माँग कि कंप्यूटर, इंटरनेट की भाषा के तौर पर हिंदी का प्रयोग अधिकाधिक हो, न्यायिक कार्य हिंदी और प्रांतीय भाषा में संपन्न हों, ताकि आम जनता इसे सहज समझ सके और इस प्रक्रिया का सक्रिय अंग बन सके - इससे एक छोटा चरण पूरा होता दिखता है। समूचा संघटन आखिर आम जनों के लिए ही तो है। सही है कि कम पढ़े-लिखे लोग भी मोबाइल पर हिंदी या क्षेत्रीय भाषा में संदेश लिखने के लिए अंग्रेजी की रोमन लिपि का प्रयोग करते हैं। यह उन्हें आसान लगता है देवनागरी की अपेक्षा। शुरुआती दिनों की दी हुई पृष्ठभूमि से यह निर्मित परिस्थितियाँ हैं, जिनमें रोमन लिपि ही इनके प्रचलन का बुनियादी आधार रही है; लेकिन धीरे-धीरे भाषा की अपनी लिपि का प्रयोग बढ़ रहा

है। न्यायालय में तकनीक और भाषा का प्रश्न लोकतांत्रिक प्रणाली में जनता की अधिकतम सहभागिता के व्यापक अवधारणात्मक व्यवहार से जुड़ा मसला है। समय बीतने के साथ केस की तारीख, प्रगति-रिपोर्ट और निर्णय भी इन्हीं माध्यमों से भेजे जा सकते हैं। व्हाट्स एप्प, मैसेंजर आदि का इस्तेमाल अन्य शासनिक-प्रशासनिक क्षेत्रों में किया जा सकता है। यह सब जितना औपचारिक स्तर पर लोकप्रिय होगा, प्रक्रिया उतनी सरल, सहज और सीधी होगी; न्यायालयी प्रक्रिया और प्रशासनिक तंत्र में विश्वास के साथ जन सरोकार बढ़ेगा। इस प्रकार न्यायालय और जनता का संवाद लोकतंत्र की विश्वसनीयता का उत्तम उपक्रम बन सकता है।

सिकुड़ती सुभीता, बढ़ते हौसले

कोरोना के कारण क्या आम, क्या खास - सबकी दिनचर्या में बदलाव आया है। सामाजिक, शासनिक, प्रशासनिक, न्यायिक, चिकित्सा सहित सभी क्षेत्रों की कार्य पद्धतियों को बदलना पड़ा है। संक्रमण के विस्तार को रोकने के लिए जब लोकबंदी की घोषणा हुई तो वह सर्वप्रथम एक दिन के लिए ही थी। लोगों ने सोचा कि 22 मार्च की ही तो बात है, उस दिन नहीं निकले तो पहाड़ नहीं टूट जाएगा। वैसे भी 22 तारीख को रविवार था, जो साधारणतः अवकाश का दिन है, इसलिए हर्षोत्साह के साथ उसका जोरदार स्वागत हुआ। उसी दिन लोकबंदी को बढ़ाकर 31 मई तक के लिए विस्तारित किया गया तो सकपकाहट बढ़ी, पर कोरोना के बढ़ते प्रकोप से बचने के लिए घर के भीतर रहना अनुचित नहीं लगा। जिस किसी ने भी बाहर निकलने का दुस्साहस किया, उन्हें प्रशासनिक सख्ती झेलनी पड़ी और घूमने का इरादा बदलना पड़ा। जब लोकबंदी अप्रैल भर के लिए बढ़ाई गई, तब लोग छटपटाए तो सही, पर इस दौरान कोरोना के केस भी द्रुत गति से बढ़ते देख सहमे रहे। पुनः तीसरी लोकबंदी 18 मई तक, फिर चौथी कुछ छूट के साथ 31 मई तक और अब पाँचवाँ-छठा लॉकडाउन अधिक छूट के साथ लागू है। 22 मार्च से 18 मई तक पूर्ण लोकबंदी में व्यक्तिगत-सामाजिक गतिविधियाँ न केवल सिमट गईं, अपितु कम से कमतर होकर सोच और व्यवहार में परिलक्षित होती रहीं। मनोरंजनपरक, विलासितापूर्ण क्रियाकलापों को तिलांजली देते हुए नितांत बुनियादी आवश्यकताओं पर ठहरकर सिमटना पड़ा। जो इच्छाएँ पूर्ति की क्षमता से युक्त होती हैं, वे आवश्यकताएँ बन जाती हैं और जहाँ उनकी पूर्ति की संभावना नहीं होती, वहाँ वे कामना, कल्पना, सपना हो जाती हैं। इस प्रकार आवश्यकता वह नहीं जो अभीप्सित हो, बल्कि वह है जिसकी पूर्ति का सामर्थ्य हो। संसाधनों द्वारा इच्छाओं के आवश्यकता बनने और आवश्यकताओं के सपने बनने की कशमकश चलती रहती है। इस व्यवहार-परिधि के अंतर्गत सीमाओं के सिकुड़ने पर आवश्यकताएँ कमतर हो जाती हैं। न्यून का न्यूनतम होने का सिलसिला तब तक चलता है, जब तक संसाधनों के सिमटाव पर विराम नहीं लगता, अथवा उसका दुबारा विस्तार शुरू नहीं होता। जरूरी नहीं कि विराम लगे ही, यह सिमटते-सिमटते एकदम शून्य हो सकता है या सिमटाव के अंतिम बिंदु तक पहुँचने से पहले प्रयोक्ता का अवसान भी हो सकता है और फिर संसाधनों के विराम-विस्तार का मूल प्रश्न सदा के लिए दफन हो जाता है।

लोकबंदी के दौरान लाखों लोगों ने - किसी ने कम तो किसी ने अधिक दूरी का सफर तरह-तरह के कष्ट झेलते हुए तय किया, कुछ को जान से हाथ भी धोना पड़ा, किंतु ज्यादातर अपने मुकाम पर तमाम बाधाओं को पार करते हुए पहुँच गए। बहरहाल, एक छोटी यात्रा करनी होती है तो कितनी तैयारी होती है। एक-आध किलोमीटर के लिए रिक्शा-ऑटो देखना पड़ता है, दस-बीस किलोमीटर के लिए बस, मेट्रो आदि का इंतजार और इनसे आगे के लिए रेल-विमान से यात्रा की जाती है। रेल तो उच्च, मध्य, निम्न और किराया न दे पाने वालों की भी गाड़ी है। ट्रेन से कितना समय लगेगा, वह कब खुलेगी - कब पहुँचाएगी - वह समय उपयुक्त होगा कि नहीं, उसमें आरक्षण उपलब्ध है या नहीं, है तो किस क्लास-वर्ग में है, उसका किराया कितना बैठेगा, उसके पहुँचने के बाद बस-रेल से आगे की यात्रा आसान होगी कि नहीं, उसमें खाने की उपलब्धता कैसी है - आदि अन्यान्य विषयों पर विचार किया जाता है और कई बार इनमें से एक चीज भी फिट न बैठने पर यात्रा टल जाती है। आकस्मिक स्थिति में तत्काल आरक्षण या फिर टिकट निरीक्षक (टीटीई) वगैरह से प्रबंध कराकर; अथवा मंत्री, सांसद या अन्य सूत्रों की सिफारिश से रिजर्वेशन पक्का कराकर यात्रा को सुगम बनाने की हरसंभव कोशिश होती है। कई बार प्रतीक्षा-सूची के टिकट को पक्का कराने के लिए भागदौड़ करना यात्रा की थकान की अपेक्षा ज्यादा कष्टकर लगता है। कूली से लेकर प्लेटफार्म टिकट तक के बंदोबस्त के बारे में सोचना, ट्रेन लेट होने पर कोसना, पानी की किल्लत पर बिफरना, सामान रखने के लिए, सीट के लिए, पाँव पसारने के लिए, बैठने-उतरने के लिए, सीट बदलने के लिए तू-तू मैं-मैं और कई बार झगड़ा-फसाद सफर में चलता है; लेकिन लोकबंदी में न खाना न पानी, न सवारी और न कोई तैयारी और प्रवासी जन साइकिल से, रिक्शा से, ठेला से, ऑटो से और ज्यादातर पैदल

कितना समय लगेगा, ट्रेन कब खुलेगी - कब पहुँचाएगी - वह समय उपयुक्त होगा कि नहीं, उसमें आरक्षण उपलब्ध है या नहीं, है तो किस क्लास-वर्ग में है, उसका किराया कितना बैठेगा, उसके पहुँचने के बाद बस-रेल से आगे की यात्रा आसान होगी कि नहीं, उसमें खाने की उपलब्धता कैसी है - आदि अन्यान्य विषयों पर विचार किया जाता है और कई बार इनमें से एक चीज भी फिट न बैठने पर यात्रा टल जाती है। आकस्मिक स्थिति में तत्काल आरक्षण या फिर टिकट निरीक्षक (टीटीई) वगैरह से प्रबंध कराकर; अथवा मंत्री, सांसद या अन्य सूत्रों की सिफारिश से रिजर्वेशन पक्का कराकर यात्रा को सुगम बनाने की हरसंभव कोशिश होती है। कई बार प्रतीक्षा-सूची के टिकट को पक्का कराने के लिए भागदौड़ करना यात्रा की थकान की अपेक्षा ज्यादा कष्टकर लगता है। कूली से लेकर प्लेटफार्म टिकट तक के बंदोबस्त के बारे में सोचना, ट्रेन लेट होने पर कोसना, पानी की किल्लत पर बिफरना, सामान रखने के लिए, सीट के लिए, पाँव पसारने के लिए, बैठने-उतरने के लिए, सीट बदलने के लिए तू-तू मैं-मैं और कई बार झगड़ा-फसाद सफर में चलता है; लेकिन लोकबंदी में न खाना न पानी, न सवारी और न कोई तैयारी और प्रवासी जन साइकिल से, रिक्शा से, ठेला से, ऑटो से और ज्यादातर पैदल अपने गंतव्य की ओर कूच करने लगे। पाँच सौ, हजार, डेढ़ हजार किलोमीटर का सफर तपती धूप में और उसमें भी पुलिस की नजर से बचकर कम हिम्मत का काम नहीं।

अपने गंतव्य की ओर कूच करने लगे। पाँच सौ, हजार, डेढ़ हजार किलोमीटर का सफर तपती धूप में और उसमें भी पुलिस की नजर से बचकर तय करना कम हिम्मत का काम नहीं, किंतु हिम्मत करनी पड़ी, क्योंकि किसी रूप में यह अपरिहार्य मान ली गई थी अथवा बना दी गई थी। जल्दीबाजी व घबड़ाहट की वजह से इसे विकल्पहीन बना दिया गया तो फिर 'मरता क्या न करता' और 'मजबूरी का नाम महात्मा गाँधी' भी तो होता है। पैदल हजारों किलामीटर के सफर के बारे में सोचना ही मूर्खतापूर्ण लगता है, लेकिन आपदाओं - भूकंप, बाढ़, सूनामी, महामारी के समय लोग कहाँ से कहाँ पहुँच जाते हैं। कोमल सेज पर सोने वालों को जमीन पर जगह नहीं मिलती; आदमी के अर्श से फर्श पर आने में देर नहीं लगती।

कोरोना संक्रमितों को अस्पताल में प्रवेश के लिए भटकना पड़ा है। कुछ मरीजों की जहाँ-तहाँ भटकने के सिलसिले में जान चली गई। संचार और यातायात साधनों के प्रसार के कारण दुनिया की कम हुई दूरी इक्कीसवीं सदी में कोरोना के भय के कारण पुनः बढ़ गई है। एक-दूसरे से दूरी बनाकर रहने, दूर-दूर ही मिलने और अलग-थलग रहने को लोग विवश हैं। चिकित्सक, नर्स, कर्मचारी भी संक्रमण के खतरे से जूझ रहे हैं। परिजन अपने सगे-संबंधियों के मृत शरीर को पहचानने और उनके दर्शन से कतराने लगे, छोड़कर भागने लगे, अंत्य क्रिया से चाहे-अनचाहे दूर रहने लगे। मष्त्यु के बाद परिजनों को घंटों सूचना नहीं मिल पा रही। संचार क्रांति के उलट कोरोना के प्रति सजगता ने वैयक्तिक-सामाजिक ही नहीं, शारीरिक व दिल की दूरी को भी चाहे-अनचाहे बढ़ाने का कार्य किया है। इस अर्थ में कोरोना के प्रति क्रांति संचार और यातायात क्रांति से भिन्न है। इसकी जरूरत क्या इसलिए पड़ गई थी, क्योंकि वैश्विक दूरी घटने के क्रम में व्यक्ति अपनों से कम, अपने से ज्यादा दूर हो गया था?

कोरोना ने विकास-विस्तार को प्रत्येक स्तर पर अवरुद्ध ही नहीं, उसे सीमित-संकुचित करने के लिए विवश किया है; लेकिन हौसला की उड़ानों को अपरिमित भी किया है। डेढ़ करोड़ से अधिक लोग संक्रमित हो गए हैं, हालाँकि मृत्यु दर काफी कम है और ठीक होने वालों का प्रतिशत नब्बे-पंचानवे प्रतिशत तक है। लेकिन वैश्विक संक्रमण के मामले में भारत का तीसरे स्थान पर पहुँच जाना चिंताजनक है। एक अनुमान के मुताबिक अगले कुछ महीनों में कोरोना से दस करोड़ लोगों की जान जा सकती है, लेकिन यह अनुमान केवल भारत को लेकर नहीं है, वरन् वैश्विक परिदष्श्य को लेकर है। न्यूजीलैंड, पापुआ न्यू गिनी, आयसलैंड, फीजी जैसे छोटे और वियतनाम, चीन जैसे बड़े देश मिलाकर दो दर्जन से अधिक देश कोरोना मुक्त हो चुके हैं, किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि वे सदा के लिए मुक्त हो गए, संक्रमण आगे फैल सकता है। जब तक इसका पुख्ता इलाज और टीका उपलब्ध नहीं हो जाता, तब तक कोई भी देश इसके संक्रमण से सुरक्षित नहीं माना जा सकता। कोरोना के अतिरिक्त एचआईवी, एवियन इंफ्लूयंजा का टीका उपलब्ध नहीं है। इन सबसे बचाव का एकमात्र उपाय है सावधानी बरतना और परहेज-निषेध का पूर्णतः पालन करना। मार्च में साढ़े पाँच सौ केस पर भारत में लोकबंदी और उसके अंतर्गत जितनी सख्ती बरती गई थी, अब आठ लाख केस हो जाने के बाद भी नहीं रखी जा रही है। जिन कारणों से लोकबंदी हुई थी, वे ज्यादा भयावह हो गए हैं, अतः अनौपचारिक अनुशासन के तौर पर लोकबंदी के दिशानिर्देशों का पालन अपेक्षित है।

14 अगस्त, 1947 की वह आधी रात

आग लगी हुई थी, मगर वह आग किसी विध्वंसकारी ने नहीं लगाई थी। भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के नई दिल्ली स्थित बगीचे में वह पवित्र आग पूर्ण वैदिक रीति से लगाई गई थी। पण्डितों के मंत्रोच्चार ने उसे शुद्धत्तर किया था। ''ओ अग्नि!'' मंत्रोच्चार अब भी जारी थे, ''ओ अग्निदेव! विश्व को शक्ति आप ही देते हैं। आत्मा और परमात्मा, सभी को आपके अनुमोदन की एक-सी आवश्यकता पड़ती है... आप मानवीय हृदय के उन गह्वरों तक भी पहुंच सकते हैं, जहां अन्य किसी की पहुंच नहीं। इस प्रकार आप सत्य के आविष्कार में अधिकतम सक्षम हैं।''

वे स्त्री-पुरुष, जो स्वतंत्र भारत के प्रथम मंत्री पदों को शीघ्र ही सम्भालने वाले थे, मंत्रोच्चार के बीच उस पवित्र अग्नि की परिक्रमा कर रहे थे। इसके उपरान्त, उन पर गंगाजल छिड़का गया। मस्तक पर तिलक भी लगाया गया, जो हिन्दुओं के प्राचीन विश्वास के अनुसार तीसरे नेत्र का प्रतीक है—तीसरा नेत्र जो प्रस्तुत दृश्य के पीछे का वास्तविक दृश्य देख सके और जो दुर्भाग्य, विपत्ति, बददुआओं, तंत्र-मंत्र की घातों आदि से व्यक्ति की रक्षा कर सके।

इस प्रकार वे भावी मंत्रीगण उन विकट जिम्मेदारियों के वहन की तैयारी कर रहे थे, जो शीघ्र ही उनके कंधों पर लद जाने वाली थीं। फिर, एक-एक करके उन्होंने संविधान सभा के उस भव्य कक्ष में प्रवेश किया, जिसकी सर्वाधिक सजावट राष्ट्रीय ध्वजों से की गई थी। आदिकाल से ही, जब मानव ने अपने अनुभवों को पत्थर पर अंकित करना भी नहीं सीखा था, सुबह का स्वागत शंखनाद से करने की परम्परा भारत में रही है। आज वह शंखनाद आधी रात को होने जा रहा था। खादी पहने हुए एक व्यक्ति उस गलियारे में खड़ा था, जहां से वह संविधान सभा की पूरी भीड़ पर नजर रख सकता था। गुलाब की पंखुड़ियों के बीच उसने अपने दोनों हथेलियों में एक शंख थाम रखा था।

उससे ठीक नीचे, वक्ता के स्टैंड पर, जो नेता आ खड़ा हुआ था, उसकी सूती बण्डी के एक काज में गुलाब का ताजा फूल पिरोया हुआ था। ब्रिटिश जेलों में बिताए गए नौ वर्षों की अवधि को यदि अपवाद स्वरूप छोड़ दिया जाए, तो जवाहरलाल नेहरू की बण्डी में गुलाब का ताजा फूल रोज पिरोया जाता था। जिस कक्ष में भारत के वायसरायों की भव्य आयल-पेण्टिग्ज लगी रहा करती थीं, वहीं अब अनेक तिरंगे झण्डे शान से फहरा रहे थे।

नेहरू के ठीक सामने खद्दरधारियों की जो भीड़ उस भवन में ठसाठस बैठी थी, वह उस राष्ट्र की जनता का प्रतिनिधित्व कर रही थी, जिसका जन्म उस आधी रात को बस होने ही वाला था। वे तमाम प्रतिनिधि परस्पर भिन्न थे, लेकिन उस भिन्नता के बावजूद अब वे इतने एक होने जा रहे थे कि अनेकता में एकता की वैसी मिसाल विश्व में अन्यत्र संभव नहीं हो सकती थी। रीति-रिवाज, धर्म, संस्कार, भाषा, रूपरंग, किसी धरातल पर भारत की जनता एकरूप नहीं थी। आध्यात्मिक उपलब्धियों की दृष्टि से जो देश विश्व में सर्वोच्च था, वहीं विश्व की सबसे दारुण समस्या गरीबी अपने पैने दांत धंसाए बैठी थी। भारत वह देश था, जहां स्वयं जनता अपनी जमीन से ज्यादा फलप्रद साबित होती थी, जहां लोगों की सबसे बड़ी शक्ति था ईश्वर। लेकिन उसी ईश्वर द्वारा नियंत्रित मौसम उन्हीं भक्तों के प्रति बेहद क्रूर था। इन तमाम विडम्बनाओं

के बावजूद, आध्यात्मिक क्षितिज पर भारत एक चमचमाता सूरज था। बौद्ध धर्म की जन्मभूमि और हिन्दुत्व की मातृभूमि भारत ने इस्लाम का प्रभाव भी कम ग्रहण नहीं किया था।

शाही शासकों द्वारा भारत में रंचमात्र भी औद्योगीकरण नहीं हुआ था। पटसन, चाय, कपास और तम्बाकू– ये चार चीजें ही भारत द्वारा प्रमुख रूप से निर्यात की जाती थीं और इन चारों का निर्यात केवल कच्चे माल के रूप में होता, इसीलिए भारत में विद्युत का उपयोग इतना कम किया जाता था कि सुनकर हंसी आए। संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रत्येक व्यक्ति केवल 1/200 विद्युत का उपभोग करता था। भारत की जमीन में विश्व के दसवें हिस्से का लोहा दबा पड़ा था, जबकि उस देश में प्रति वर्ष केवल दस लाख टन इस्पात का उत्पादन होता था। देश का समुद्री किनारा 3800 मील लंबा होने के बावजूद, मछली उद्योग इतना भी विकसित नहीं हुआ था कि भूखों मर रहे भारतीयों को थोड़ी-सी भी राहत मिल सके।

विकट विडम्बनाओं के देश भारत को संचालित करने की जिम्मेदारी जिस व्यक्ति पर सर्वाधिक आने वाली थी, वह अपनी जनता के उन प्रतिनिधियों को सम्बोधित कर रहा था, जो संविधान सभा में उसके आमने-सामने बैठे हुए थे। लाहौर के समाचार टेलीफोन पर मिलने के बाद जवाहरलाल नेहरू का मन भर गया था। न तो उन्हें इच्छा रही थी और न इतना समय ही मिल पाया था कि अपना भाषण वह लिखकर तैयार कर सकते। वह आशु-वक्ता उस समय जो बोल रहा था, वह उसके दिल की आवाज थी–इतनी ईमानदार आवाज की उसे पहले से लिखकर तैयार रखना लेश-मात्र भी आवश्यक नहीं था। जवाहरलाल की जीभ पर आज साक्षात सरस्वती विराजमान थीं।

''आज...हम सब जो यहां मिल रहे हैं...'' वह कहते जा रहे थे, ''इस मिलन को स्वयं हमने बरसों पहले तय कर लिया था। हमारी वह प्रतिज्ञा आज पूरी हो रही है। यह सच है कि सपना ज्यों का त्यों साकार नहीं हो रहा, लेकिन फिर भी... अधिकांश सपना तो साकार हो ही गया है। आज...ज्यों ही आधी रात की टंकार होगी... जब दुनिया सो रही होगी–भारत जागेगा और जागते ही आजाद हो जाएगा। इतिहास में ऐसे क्षण कभी-कभी ही आते हैं, जब केवल एक दहलीज हम पार करें और पुराने को छोड़कर नए में आ खड़े हों... जब उसी एक कदम से पूरा युग समाप्त हो जाए और बरसों से दबे पड़े किसी देश की आत्मा एकाएक सोते से उठ पड़े... .।''जैसा कि नेहरू जी ने बाद में अपनी बहन को बताया, ''मुझे होश नहीं था कि क्या कह रहा हूं.. . शब्द जुबान पर आते और फिसलते जा रहे थे... जबकि मस्तिष्क में लाहौर के ही आग-भरे दृश्य लगातार कांप रहे थे।''संविधान सभा के समक्ष नेहरूजी प्रस्ताव रख रहे थे, ''ज्यों ही आधी रात की टंकार समाप्त होगी, हम सब उठ पड़ेंगे और भारतीय जनता की अधिकतम सेवा करने की शपथ लेंगे।''

सभा-भवन से बाहर, आधी रात के आकाश में, अचानक बिजली कड़क उठी और मानसूनी बारिश टूट पड़ी। भवन को चारों तरफ से हजारों भारतीयों ने घेर रखा था। वे भींगने लगे। क्षण-क्षण नजदीक आ रही उस आधी रात की सम्भावना ने उन्हें इतना रोमांचित और तन्मय कर रखा था कि भींगने का उन्हें पता भी नहीं चल रहा था।भवन के अन्दर, वक्ता के स्टैण्ड के ठीक ऊपर, जो बड़ी-सी दीवार-घड़ी लगी थी, उसके कांटों ने बारह की तरफ सरकना शुरू किया। जनता के प्रतिनिधि सिर झुका कर, गम्भीर खामोशी के साथ बैठे रहे। आधी रात की टंकार की प्रतीक्षा में वे मानो समाधिस्थ हो गए थे। आखिर वह टंकार शुरू हुई, जिसने एक दिन के समापन और साथ में एक युग के भी समापन की घोषणा कर दी। टंकार के दौरान कोई व्यक्ति बिल्कुल न हिला।

बारहवीं टंकार की गूंज अभी शांत हुई भी न थी कि गलियारे में खड़े उस मानव ने तीव्रतर शंखनाद करके पूरे भवन में वह थर्राहट भर दी, जिसके प्रभाव में जनता के वे सारे प्रतिनिधि अचानक उठ पड़े। उनका देश, उस शंखनाद के साथ, सहसा अवतरित हो गया था।

दुनिया की नजरों में, उस शंख-ध्वनि ने, मानव इतिहास के सबसे बड़े साम्राज्य को भारतीय भूखण्ड पर से विदा कर दिया। एक युग का प्रारंभ। एक युग का अंत।दोनों नवनिर्मित राष्ट्रों में, उस शंखनाद के साथ, नई धड़कनें शुरू हो गई थीं। बड़ी बातों के अलावा छोटी-छोटी भी अनेक बातें थीं, जिनसे पता चल रहा था कि अंग्रेजों का राज खत्म गया।

भारत जब इन समारोहों में मग्न था, तब उस शानदार भवन में एक क्रांतिकारी लाई जा रही थीं, जिसकी दीवारों के बीच सुरक्षित रह कर अंग्रेजों ने अपनी राजनयिक क्षमताओं का परिचय देते हुए भारत का संचालन किया था। भवन के इस छोर से उस छोर तक नौकरों ने दौड़ धूप लगा रखी थी। वे ऐसी प्रत्येक वस्तु को हटा रहे थे, जिसे देख कर नए-नए आजाद हुए भारत के नागरिकों को रंच-मात्र भी ठेस पहुंचने की सम्भावना हो।

माउण्टबेटन ने प्रण किया था कि वह 'इस गवर्नमेण्ट हाउस' में जो कल-परसों तक 'वायसराय हाउस' कहलाता था, ऐसी कोई बात शेष नहीं रहनी चाहिए, जो कि अपने आजादी दिवस पर यहां आने वाले भारतीयों को जरा भी चुभे और उन्हें भूतकाल का आघात याद आ जाए।

यह कामधाम अभी चल ही रहा था कि संविधान सभा द्वारा भेजा गया भारतीय नेताओं का प्रतिनिधिमंडल आ पहुंचा। राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने औपचारिक रूप से भारत के अंतिम वायसराय को भारत का प्रथम गवर्नर जनरल बनने का आमंत्रण दिया। उस आकर्षक एडमिरल ने, उसी शाम, एक और भी सम्मान प्राप्त किया था। सम्राट जार्ज छठवें ने भारत में माउण्टबेटन के प्रशंसनीय कार्यों को देखते हुए, उन्हें 'वायकाउण्ट' के स्तर से ऊपर उठा कर 'अर्ल' बना दिया था।

माउण्टबेटन ने राजेन्द्र प्रसाद का आमंत्रण स्वीकार करते हुए वचन दिया कि वह भारत की सेवा उसी तरह करेंगे, जिस तरह कि स्वयं कोई भारतीय।

इसके बाद, नेहरू जी ने माउण्टबेटन को एक लिफाफा दिया, जिसमें उन व्यक्तियों की सूची थी, जो—गवर्नर-जनरल के अनुमोदन के बाद स्वतंत्र भारत की पहली सरकार की रचना करते।

नेताओं की विदाई के बाद सोने के पहले माउण्टबेटन ने वह लिफाफा खोला उसमें से जो चीज निकली, उसे देखकर माउण्टबेटन खिलखिला कर हंस पड़े। वह शाम इस हद तक व्यस्तापूर्ण रही थी कि भारत के प्रथम मंत्रिमंडल के पदाधिकारियों के नाम कागज पर अंकित करने का का समय नेहरूजी को नहीं मिला था। उस लिफाफे में सिर्फ कोरा कागज था।

गांधी जी के अनुयायी जो स्त्री-पुरुष भीतर थे, उनके दैनिक कार्यक्रमों में, उस अनोखी रात भी, कोई परिवर्तन नहीं आया था। उस बड़े-से कमरे में, जहां वे सब सोया करते थे, रुखी चटाइयों पर उन्होंने अपने शरीर निढ़ाल कर दिए थे। जैसी चटाइयां सब की थीं, वैसे ही उस बूढ़े की भी थी, जिसके निद्राधीन शरीर के पास ही रखी थी उसकी स्वच्छ खड़ाऊं, उसकी गीता, उसके नकली दांत और इस्पाती फेम का उसका चश्मा।

जब सारे देश की घड़ियों ने उस जादुई अर्द्ध-रात्रि के आगमन की घोषणा में टंकार शुरू की, जब समस्त भारत में आजादी अंगड़ाई लेती हुई अचानक उठ पड़ी, तब मोहनदास करमचन्द गांधी नींद से बेखबर सोए हुए थे।

(लैरी कॉलिन्स एवं दॉमिनिक लैपियर की पुस्तक 'आधी रात की आजादी' से साभार)

सलाखों के पीछे से

सेंट्रल जेल, पेशावर, 25 अक्टूबर, 1942

दुनिया के हालात की हकीकत का दुरुस्त अंदाज उसी वक्त होता है, जब इंसान दुख-सुख और सच्चाई तथा झूठ को साथ-साथ देखे। आमतौर पर वाक़यात का एक ही पहलू देखने में आता है, और वह लोग ज़हां तक हो सके, अपने ही माहौल में रहना पसंद करते हैं। किसको इतनी फुरसत है कि अपनों को छोड़कर दूसरों का हाल पूछता फिरे, लेकिन जेल में न सिर्फ दुनियावी ऊंच-नीच के अंधेरे नज़र आते हैं, बल्कि इनके साथ रहना भी पड़ता है और उन पर सोचने का मौक़ा मिलता है। पिछले चंद सालों में मेरे रहन-सहन में बहुत-सी तब्दीलियां हुई हैं। अगर गांव-गांव फिरकर आम बस्तियों में सोना सीखा, वहां की गलियां तक साफ कीं, तो साथ ही थर्ड क्लास के सफर ने सारे ठाट-बाट भुला दिए। इस सिलसिले में एक बात याद आई। पेशावर में एक सिख दोस्त थे। जब पूछो, 'सरदार जी! मिजाज शरीफ!' तो उनका जवाब होता, 'वह तो रखा ही नहीं।' बस, यही सूरत अपनी भी है यानी मिज़ाज ताक़ पर रख छोड़ा है। बावजूद इसके, इस तजुर्बे के लिए तैयार न था और शुरू-शुरू में काफी कोफ्त हुई। इसका थोड़ा-सा हल लिखना ही पड़ेगा।

जैसा कि पहले लिख चुका हूं कि रात की आखरी घड़ियों में पकड़ा गया और तड़के ही पेशावर सेंट्रल जेल में दाखिल हुआ, मगर इसके बड़े हिस्से में नहीं, बल्कि ड्योढ़ी के पास ही एक बैरुनी अहाते में। अर्द्धचाँदनी के अलावा बिजली का लैम्प भी रोशनी फैला रहा था। फूलों की क्यारी ने उस वक़्त कमाल का रंग जमा रखा था। मगर ज्यों ही बैरक में दाखिल हुआ, तो उसकी दक़ियानूसी बनावट से वह सुहाना समां मिटा और मैं असलियत से दो-चार हुआ। एक कोने में कोई चीज़ हिली, उठी और हौले-हौले मेरी तरफ आई। रूखेपन से हाथ मिलाया। सो जाने की सलाह दी। कम्बल तानकर लेट गया और लगा खर्राटे लेने। वह क़ैदी नम्बरदार था, जो बैरक में बन्द कर दिया गया था कि शायद रात में कोई नया पखेरू न आ फंसे।

काफी देर तक अपने नये घर को देखता रहा। मैली दीवारें, स्याह छत, एक जख़्मी शकोरा, दो अधूरे मटके और मिट्टी के ढेलों से भरा हुआ टेढ़ा टीन। ये सब अपने-अपने बुढ़ापे का रोना रो रहे थे। बैरक के एक कोने में एक दो-फुटिया दीवार से टॉयलेट का मसला हल कर दिया था। यह छह फीट लम्बी और डेढ़ फूटी चौड़ी जगह कैदियों के पलंग थे। यह खुटियां डेढ़ बालिश्त ऊंची और एक-दूसरे से अलग हैं। अभी इस माहौल को पहचान ही रहा था कि साथ वाली बैरक से आवाज आई, 'कौन आया?' पहले तो मैं खामोश रहा, मगर जब वे आवाजें आती रहीं, तो मैं फाटक के पास गया और अपना अता-पता सुना डाला। दूसरी तरफ वह दस दुकानदार थे, जिन्हें हुकूमत ने दो रोज पहले हमारी आर्थिक सहायता के शक में गिरफ्तार किया था। वह बेसब्री से बातचीत का सिलसिला बढ़ाना चाहते थे, मगर मैंने सलाह दी कि सुबह तक ठहरें, क्योंकि सलाखों के पीछे जानवरों की तरह ऊँची आवाज़ में सवाल-व-जवाब करना मुनासिब न दिखा।

जेल का दिन तड़के ही शुरू होता है। अभी अंधेरा ही था कि गिनती करने वाले आ टपके और लोगों को गिनकर गायब हो गए। मुश्किल से नमाज पढ़ी थी कि एक घण्टी बजी। किवाड़ खुला और वे दुकानदार मेरे गिर्द जमा हो गए और लगे सवाल करने। ऐसा लगता था कि गोया बरसों से अंदर सिकुड़ रहे हैं। उनके चेहरों पर हवाइयां उड़ रही थीं और होंठ खुश्क थे। कारोबार से अलहदमी पर परेशानी और अपने

भविष्य के बाबत फिक्र में एक तरीका है, ताकि वे हमारी आर्थिक सहायता से अलग रहें, फिर भी उनकी हालत पर अफसोस हो रहा था और उनको गिरफ्तार करने वालों पर गुस्सा कि आखिर इन बेचारों का क्या कसूर है, जिसके लिए यह यहां तक लाए गए हैं। इनमें से ज्यादातर तो हमारे साए से भी भागते थे। भला वे हमारे साथी किस तरह बनते। शायद एक-आध ने कुछ दे दिया हो, मगर ऐसी खुफिया हमदर्दी की सजा तो बहुतों को मिल सकती है। हमारी कुर्बानियों से प्रभावित होकर सरकार के पिट्ठू भी हमसे संबंध रखना और कभी-कभार हमारी आर्थिक सहायता करना उचित समझते हैं। ऐसे लोगों को दोरंगापन काबिलेनफरत जरूर है, मगर हुकूमत को मालूम होना चाहिए कि वतन से गद्दारी करने वाले वक़्त आने पर उनसे भी आंखें फेर लेंगे और नये हाकिमों को खुश करने की फिक्र में पड़ जाएंगे। उस वक़्त अंग्रेजों को क़ौम-परस्तों की कद्र ध्यान आएगी, क्योंकि वह खुद अपने मुल्क से मुहब्बत करते हैं और ऐसा करने वालों की कभी तो पहचान आएगी।

भविष्य के बाबत फिक्र में एक तरीका है, ताकि वे हमारी आर्थिक सहायता से अलग रहें, फिर भी उनकी हालत पर अफसोस हो रहा था और उनको गिरफ्तार करने वालों पर गुस्सा कि आखिर इन बेचारों का क्या कसूर है, जिसके लिए यह यहां तक लाए गए हैं। इनमें से ज्यादातर तो हमारे साए से भी भागते थे। भला वे हमारे साथी किस तरह बनते। शायद एक-आध ने कुछ दे दिया हो, मगर ऐसी खुफिया हमदर्दी की सजा तो बहुतों को मिल सकती है। हमारी कुर्बानियों से प्रभावित होकर सरकार के पिट्ठू भी हमसे संबंध रखना और कभी-कभार हमारी आर्थिक सहायता करना उचित समझते हैं। ऐसे लोगों को दोरंगापन काबिलेनफरत जरूर है, मगर हुकूमत को मालूम होना चाहिए कि वतन से गद्दारी करने वाले वक़्त आने पर उनसे भी आंखें फेर लेंगे और नये हाकिमों को खुश करने की फिक्र में पड़ जाएंगे। उस वक़्त अंग्रेजों को क़ौम-परस्तों की कद्र ध्यान आएगी, क्योंकि वह खुद अपने मुल्क से मुहब्बत करते हैं और ऐसा करने वालों की कभी तो पहचान आएगी।

मानवाधिकार और स्वतंत्रता

मानवीय अधिकार मनुष्य का नैसर्गिक अधिकार है। इसका अभिप्राय उन अधिकारों से है जो मानव होने के नाते व्यक्ति के विकास और कल्याण के लिए आवश्यक हैं। वैसे तो ये अधिकार प्रकृति प्रदत्त हैं और स्वाभाविक रूप से इंसानों को प्राप्त हैं, तथापि आधुनिक राष्ट्र-राज्य की उभरती अवधारणाओं, राजसत्ता की लोकशाही प्रवृत्तियों के अंतर्गत भी मानव अधिकारों के गला घोंटने के प्रयासों ने इसे कानूनी जामा पहनाने के लिए बाध्य किया है, ताकि कोई भी दबाव मुनष्य के स्वाभाविक या कानून की शब्दावली में कहा जाए तो मौलिक अधिकारों को कुचलने का प्रयास न करे। दिसम्बर 1948 में राष्ट्र संघ द्वारा 'मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा' नाम का एक प्रपत्र जारी किया, जिसमें स्पष्ट लिखा है कि ''हर व्यक्ति को विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार है। बिना किसी हस्तक्षेप के विचार निर्मित करना और उसे व्यक्त करना इस अधिकार में सम्मिलित है। देश की सीमाओं की चिंता किए बगैर किसी भी माध्यम से सूचनाएं एवं विचार एकत्र करने, प्राप्त करने और उन्हें लोगों तक पहुंचाने का अधिकार भी इस अधिकार में शामिल है।'' आज भी विश्व के सवा सौ से अधिक देशों में लोकतांत्रिक व्यवस्था कायम है, पर प्रेस को पूर्ण आजादी नहीं है और व्यक्ति को जानने का पूर्णत: अधिकार नहीं मिला है। फलत: नागरिकों को अभिव्यक्ति और सूचनाधिकार से वंचित रहना पड़ता है। ये दोनों प्रश्न नागरिकों की स्वतंत्रता से जुड़े हुए हैं। 4 जुलाई, 1776 को अमेरिका की स्वतंत्रता की घोषणा के समय कहा गया था कि 'सभी व्यक्ति समान पैदा हुए है तथा उनका जीवन स्वतंत्रता तथा प्रसन्नता की खोज का अहस्तांतरणीय अधिकारी हैं।' वस्तुत: कोई भी राज्य या देश स्वतंत्र और लोकतांत्रिक रूप से संपन्न तब माना जाएगा, जब उसके नागरिकों को अधिकतम स्वतंत्रता हासिल हो। इस रूप में जो राज्य अपने नागरिकों को जितनी अधिक स्वतंत्रता देता है, वह उतना ही अधिक अच्छे शासन का उदाहरण है। केवल कानूनों से प्राप्त स्वतंत्रता जो केवल सिद्धांत रूप में अस्तित्व में है, का उतना मूल्य नहीं, जितना व्यवहार की स्वतंत्रता का है। फ्रांस की राज्य-क्रांति के दार्शनिकों के अनुसार भी वैयक्तिक स्वतंत्रता मनुष्य जाति का स्वाभाविक अधिकार है। स्वतंत्र भाषण, स्वतंत्र प्रेस, स्वतंत्र मिलन, संप्रदाय की स्वतंत्र पसंदगी, स्वायत्त शासन आदि इस स्वतंत्रता के चिन्ह हैं। स्वतंत्रता, समानता और भाईचारा फ्रांस की राज्यक्रांति का केंद्रीय तत्व था और यह माना गया कि धर्म-विश्वास की, वाणी की, प्रेस की और सभा-समाज में सम्मिलित होने की स्वतंत्रता का दमन-तानाशाही की खूबी है। इस रूप में स्वतंत्रता सुरक्षा देती है, भय से मुक्ति प्रदान करती है। लोकतंत्र मानव स्वभाव की आधारभूत बुनियादी सुविधाएं व स्थितियां सामने लाने का अस्त्र है। इस अर्थ में लोकतंत्रीय स्वतंत्रता का पक्ष, मानवीय गुप्त शक्तियों के यथासंभव पूर्णतर पुष्पित और फलित होने का ही पक्ष है, दोनों बातें एक-सी हैं। लोकतंत्र व्यक्ति के अपने निजी जीवन का ढंग है और ऐसा मार्ग है जो मानव के अपने निजी आचार-व्यवहार के लिए एक नैतिक मानदंड प्रस्तुत कर देता है। जेफर्सन के अनुसार मानवीय

अधिकार ही ध्रुव और अटल हैं, 'मानव के स्वत:सिद्ध और अविच्छिद्य अधिकारों के अतिरिक्त कोई भी वस्तु अपरिवर्तनशील नहीं है।' स्वतंत्र होने और महसूस करने के लिए जरूरी है कि हमारी स्वतंत्रता किसी और पर आश्रित नहीं हो। अर्थात् हमें स्वतंत्रता किसी ने दी है, ऐसा नहीं लगना चाहिए वरन् यह स्वाभाविक रूप से हमने प्राप्त की है। महात्मा गांधी ने कहा है कि ''स्वराज्य तो सबको अपने लिए पाना चाहिए और सबको उसे अपना बनाना चाहिए। दूसरे लोग जो स्वराज दिला दें, वह स्वराज्य नहीं, बल्कि पर राज्य हैं।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 19 (1) के अनुसार भारत के प्रत्येक नागरिक को विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्रदान की गई है, शांतिपूर्ण बिना हथियार लिए सभा करने, संस्था-समुदाय बनाने, देश के किसी भी भाग में जाने-आने व रहने व व्यसाय करने की स्वतंत्रता प्रदान की गई है। वास्वम में स्वतंत्रता की पहली और मूलभूत आवश्यकता विचार और उसकी अभिव्यक्ति की होती है, लेकिन सूक्ष्म रूप से देखा जाए तो स्वतंत्रता का संबंध विचार की अभिव्यक्ति से तो कानूनन है, लेकिन नैसर्गिक रूप से अभिव्यक्ति से पूर्व विचार निर्माण में स्वतंत्रता का बहुत-बड़ा योगदान है, क्योंकि भाव-विचार भी बाह्य परिस्थितियों व संस्कारों की उपज होते हैं, इसलिए स्वतंत्र रूप से सोचना-समझना जरूरी होता है। कई बार दासता या गुलामी की पकड़ इतनी मजबूत व स्वाभाविक होती है, जिसे पहचान नहीं पाते, वे हमारे जीवन के स्वाभाविक अंग-कार्य-आदत सदृश होती हैं, फलत: हमारी सोच व भावनाएं इसी में कैद की होती हैं। किसी भी राज्य या सरकार द्वारा नागरिक स्वतंत्रता की रक्षा करना ही उनका मूल ध्येय है। लॉवेल ने माना है कि 'सच्ची स्वतंत्रता यह है कि जिन जंजीरों से हमारे बंधुगण जकड़े हुए हैं, उनमें भागीदारी करते हुए हृदय-मस्तिष्क से दूसरों को बंधन-मुक्त करने के लिए तत्पर हों। वस्तुत: कहीं भी यदि नागरिक स्वतंत्रता का हनन होता है तो उसका प्रभाव हमारे ऊपर किसी-न-किसी रूप में प्रत्यक्षत:-परोक्षत: जरूर पड़ता है, इसलिए जवाहर लाल नेहरू ने कहा है 'यदि नागरिक स्वतंत्रता का हनन होता है तो देश अपनी पूरी जीवन-शक्ति खो बैठता है और किसी भी महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए अयोग्य हो जाता है। लगभग इसी तरह के विचार महात्मा गांधी ने भी व्यक्त किए हैं कि 'अहिंसात्मक उपायों द्वारा नागरिक स्वतंत्रता स्वराज-प्राप्ति की दिशा में पहला कदम है। यही राजनीतिक और सामाजिक जीवन का प्राणवायु है। यही स्वतंत्रता की नींव है। इस संबंध में कोई ढील देने या समझौते करने के लिए कोई जगह नहीं।' स्पष्ट है कि नागरिक स्वतंत्रता को न केवल सुरक्षित रखना अपितु इसे मजबूत करना अच्छी शासन-पद्धति की बुनियाद है, इसके अंतर्गत अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को प्राथमिकता प्राप्त है। रामधारी सिंह दिनकर के मतानुसार, ''मनुष्य अनिवार्य रूप से उन शक्तियों का आगार है जिससे नूतन दृष्टियाँ रची जाती हैं, अतएव उसकी प्रत्येक इच्छा को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता मिलनी ही चाहिए।'' दार्शनिकों ने व्यक्ति की स्वतंत्रता की जमकर वकालत की है और यह माना है कि सुदिशा की ओर मनुष्य की चेतना का स्वतंत्र होना न केवल समाज व राष्ट्र, अपितु मानव जाति के लिए भी हितकर है। समाज की, राष्ट्र की, विश्व की कोई भी स्वतंत्रता की लड़ाई व्यक्ति से शुरू होती है। पुन: पंडित नेहरू के शब्दों में, 'स्वतंत्रता का मतलब यह नहीं है कि हम जो पसंद करते हैं, उसे छपने या अभिव्यक्त होने दें। नागरिक स्वतंत्रताएं तथा प्रेस की आजादी जो हम नहीं पसंद करते, उसकी अनुमति देने और अपनी आलोचना को सहन करने में निहित हैं।'

स्वतंत्रता की हूक

अमिताभ कुमार

कर्मक्षेत्र में स्वतंत्रता पर विचार करें तो पाएंगे कि जन्म से लेकर मृत्यु तक आप कोई भला काम करने को स्वतंत्र नहीं हैं। हमारे प्रिय आर्यावर्त में जन्म से पहले शिशु के काम-धाम, नौकरी-व्यवसाय आदि का निर्धारण कर लिया जाता है। उससे आगे हमारी शिक्षा पद्धति है जो शायद नौकर पैदा करने के लिए अभिशप्त है। इसी वजह से शिक्षा पूर्ण होते ही सभी नौकर बनने को आतुर रहते हैं। कभी कभार ऐसी सुर्खियां भी देखने को मिलती हैं कि फलां ने नौकरी की पेशकश ठुकराकर स्वरोजगार का निर्णय लिया है। इससे पता चलता है कि स्वरोजगार की दिशा में कदम बढ़ाने वाले युवाओं की संख्या इतनी कम या नगण्य है कि वह अखबार की सुर्खियों में छपने लायक घटना मानी जाती है। यह कितना गंभीर चिंतन का विषय है। क्योंकि जिस देश का किसान इतना हिम्मती है कि एक फसल पर जेवर, घर तक गिरवी रख दे, उसका युवा इतना कमजोर की स्वरोजगार के लिए सोचना भी गुनाह समझे।

रास्ता चलते सड़क पर किसी सिपाही को आम नागरिक रिश्वत लेते व लड़ते और नियमों की धज्जियां उड़ाते देखकर स्वतंत्रता का सारा खुमार उतर जाता है। दिमाग से खारा कड़वा रस स्रावित होने लगता है। दूसरी तरफ क्रोध में या किसी भी बहाने सार्वजनिक संपत्ति, वाहनों या सरकारी संपत्ति को तोड़ते फूंकते देखकर भी मन बैठ जाता है, दिल के किसी कोने से हूक सी उठती है।

स्वतंत्रता का भाव ही तिरोहित होने लगता है।मानसिक तसल्ली भर को स्वतंत्र देश के नागरिक होने का गुमान तो बस एक बदगुमानी के धाब्बे सा, झूठ से उंची नाक के सिरे पर चिपका-सा दिखता है। शिक्षा से रोजगार के क्षेत्र में प्रवेश करते ही स्वतंत्रता की भावना को क्षति पहुंचाने के इतने कारकों का सामना होने लगता है कि बच्चा दिग्भ्रमित-सा हो जाता है।

दुनिया में सर्वप्रथम सभ्यता के प्रवर्तक भागों में से एक जंबूद्वीप, दक्षिण भारतीय महाद्वीप, आर्यावर्त या कहें भारत इतने सहज स्वतंत्र विचारकों, दार्शनिकों और विद्वानों का प्रदेश रहा, जिन्होंने जीवन-चक्र से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया। निरर्थक सांसारिक भौतिक पदार्थों से आगे शरीर तक को आत्मा का बंधन माना। स्वतंत्रता के इतने गूढ़ रहस्य तक तो आज भी दुनिया का कोई समाज नहीं पहुंच सका है। स्वतंत्रता शब्द के अंतर्मन को समझना अभी भी मुश्किल है। भौतिक स्वरूप में भूभाग बांट कर स्वतंत्र होने के खिलौना भाव वाले लोगों को बेहद संकीर्ण दायरे में चक्कर काटते देखकर हैरानी होती है।

मन, कर्म, वचन से स्वतंत्रता का भाव वस्तुतः मूल व्यक्तित्व की रचना से जुड़ा है। ऐसे निर्द्वंद्व, निर्भीक व अयाचक व्यक्तित्व के दर्शन भी कठिन हैं। स्वतंत्र होने के लिए भी पहले 'स्व' से मुक्त होना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। तभी हम तंत्र को निर्बाधा रख पाएंगे। सब पर समान रूप से लागू होगा। किसी को दासत्व के दायरे में समेटने की कोशिश नहीं होगी। जब तक दूसरे की स्वतंत्रता का सम्मान नहीं करेंगे, हमारी स्वतंत्रता कैसे सुरक्षित रहेगी?

हमारे देश में आज जो स्थिति है, उसमें स्वतंत्रता का मतलब मनमानी तंत्र है। स्व का अर्थ हम अपने स्वार्थ और तंत्र यानि उसके अनुकूल व्यवस्था से लेते हैं। मनमानी व्यवस्था को स्वतंत्रता के पर्याय रूप में लेना बेहद खतरनाक प्रकृति है जो कि लोगों के रग-रग में व्याप्त है। हर मोड़ पर आपकी स्वतंत्रता पर आघात करने के लिए अपना अपना तंत्र यानी स्वतंत्रता का दीप लिए लोग खड़े हैं।

गुनाह समझने का कारण भी है। यह उन लोगों ने खूब अच्छी तरह झेला है जिन्होंने अपने मन के प्रिय क्षेत्र में काम करने का सपना देखा। क्या घर, क्या बाहर, क्या परिवार, क्या यार, क्या बनिए, और क्या सरकार, समझिए सबसे दुश्मनी मोल ली हो। कहने को बहुत सारे क्षेत्र, बहुत सारा पैसा, बहुत सारी योजनाएं, नियम व कानून हैं। आप उसके लिए खूब योग्य भी हैं, युवा भी हैं और ऊर्जावान भी हैं। मगर आपके लिए वह सुविधा बिल्कुल नहीं है। आपकी लाख कोशिशें नाकाम हो जाएंगी। उन्हें हासिल करने की जो स्वतंत्र समांतर व्यवस्था है, वह काम करने वाला को काम नहीं लेने देती। हां, काम निकालने की विद्या में माहिर दलाल किस्म के लोग उसे हासिल कर सारी मालाई खाने और वास्तविक काम करने वाले को छाछ पीने देने में भी अपनी शर्मिंदगी महसूस करते हैं।

बच्चे की क्षमता, रुचि व समझ के हिसाब से उसे विकसित होने का अवसर नहीं दिया जाता है। स्पष्ट है कि कार्य-क्षेत्र में स्वतंत्रता कितना बीहड़ कार्य है। कतिपय ज़िद्दी लोगों ने ऐसा किया, तो मन-मुताबिक काम कुछ हद तक करने में सफल भी लेकिन इसी में तो सारी उम्र निकल गई और उसका आनंद तक लेने की अवस्था में नहीं पहुंच सके।

ऐसे में वास्तविक रूप से संपूर्ण भाव में स्वतंत्रता का आभास पाना भी कितना महंगा पड़ सकता है, यह शोचनीय है। वास्तविक स्वतंत्रता का आनंद तो दूर की कौड़ी है। अभी तो हम उसे जानते ही नहीं तो फिर संभालना और सब तक उसका आनंद पहुंचना कहीं ज्यादा बड़ा सपना है।

कर्मक्षेत्र में स्वतंत्रता पर विचार करें तो पाएंगे कि जन्म से लेकर मृत्यु तक आप कोई भला काम करने को स्वतंत्र नहीं हैं। हमारे प्रिय आर्यावर्त में जन्म से पहले शिशु के काम-धाम, नौकरी-व्यवसाय आदि का निर्धारण कर लिया जाता है। उससे आगे हमारी शिक्षा पद्धति है जो शायद नौकर पैदा करने के लिए अभिशप्त है। इसी वजह से शिक्षा पूर्ण होते ही सभी नौकर बनने को आतुर रहते हैं। कभी कभार ऐसी सुर्खियां भी देखने को मिलती हैं कि फलां ने नौकरी की पेशकश ठुकराकर स्वरोजगार का निर्णय लिया है। इससे पता चलता है कि स्वरोजगार की दिशा में कदम बढ़ाने वाले युवाओं की संख्या इतनी कम या नगण्य है कि वह अखबार की सुर्खियों में छपने लायक घटना मानी जाती है। यह कितना गंभीर चिंतन का विषय है। क्योंकि जिस देश का किसान इतना हिम्मती है कि एक फसल पर जेवर, घर तक गिरवी रख दे, उसका युवा इतना कमजोर की स्वरोजगार के लिए सोचना भी गुनाह समझे।

गुनाह समझने का कारण भी है। यह उन लोगों ने खूब अच्छी तरह झेला है जिन्होंने अपने मन के प्रिय क्षेत्र में काम करने का सपना देखा। क्या घर, क्या बाहर, क्या परिवार, क्या यार, क्या बनिए, और क्या सरकार, समझिए सबसे दुश्मनी मोल ली हो। कहने को बहुत सारे क्षेत्र, बहुत सारा पैसा, बहुत सारी योजनाएं, नियम व कानून हैं। आप उसके लिए खूब योग्य भी हैं, युवा भी हैं और ऊर्जावान भी हैं। मगर आपके लिए वह सुविधा बिल्कुल नहीं है। आपकी लाख कोशिशें नाकाम हो जाएंगी। उन्हें हासिल करने की जो स्वतंत्र समांतर व्यवस्था है, वह काम करने वाला को काम नहीं लेने देती। हां, काम निकालने की विद्या में माहिर दलाल किस्म के लोग उसे हासिल कर सारी मालाई खाने और वास्तविक काम करने वाले को छाछ पीने देने में भी अपनी शर्मिंदगी महसूस करते हैं।

बच्चे की क्षमता, रुचि व समझ के हिसाब से उसे विकसित होने का अवसर नहीं दिया जाता है। स्पष्ट है कि कार्य-क्षेत्र में स्वतंत्रता कितना बीहड़ कार्य है। कतिपय जिद्दी लोगों ने ऐसा किया, तो मन-मुताबिक काम कुछ हद तक करने में सफल भी लेकिन इसी में तो सारी उम्र निकल गई और उसका आनंद तक लेने की अवस्था में नहीं पहुंच सके।

ऐसे में वास्तविक रूप से संपूर्ण भाव में स्वतंत्रता का आभास पाना भी कितना महंगा पड़ सकता है, यह शोचनीय है। वास्तविक स्वतंत्रता का आनंद तो दूर की कौड़ी है। अभी तो हम उसे जानते ही नहीं तो फिर संभालना और सब तक उसका आनंद पहुंचना कहीं ज्यादा बड़ा सपना है।

प्रेरक प्रसंग

कलम आज उनकी जय बोल

उमेश प्रसाद सिंह

संत सिंह का आत्म बलिदान

गुरु गोविन्द सिंह मुगल सैनिकों से चमकौर किले में घिरे हुए थे। उनके साथ केवल साढ़े पांच सौ सिख थे। हजारों मुगल सैनिकों ने किले को घेर रखा था। तोपें लगाई गई थीं। ऐसा लगता था कि किसी भी क्षण मुगल किले के भीतर प्रवेश कर जाएंगे। गुरु गोविन्द सिंह का शिष्य संत सिंह ने उनका पैर पकड़कर कहा, 'आप किले के कोठरी में चले जाएं। मैं आपके वेश में सिहांसन पर बैठ जाऊंगा।' गुरु जी ने कहा– 'मैं कायरों की भांति जान बचा कर नहीं भागूंगा, युद्ध करता हुआ प्राणोत्सर्ग करूंगा। परंतु सन्त सिंह की अनुनय-विनय के सामने गुरु जी को बात माननी पड़ी। संत सिंह ने गुरु जी की पगड़ी पहनी और आसन पर बैठ गया। मुगल किले की दीवार तोड़कर अंदर घुसे। संत सिंह की गुरु गोविन्द सिंह समझकर हत्या कर दी। मुगल सैनिक जश्न मनाने लगे। उधर गुरु गोविन्द सिंह किले से बहुत दूर निकल चुके थे। बाद में संत सिंह को याद कर रो पड़े।

फांसी देखा तो फांसी मिला

भारत में स्वतंत्रता का प्रथम संग्राम 1857 में हुआ। पूरे देश में लाखों राष्ट्रभक्तों ने प्राणों की आहुति देकर राष्ट्र के लिए सर्वस्वदान का इतिहास रच डाला। इस युद्ध में अंग्रेज विजयी हुए। इस विजय के बाद देश भर में भारी अत्याचार हुआ। बहादुरशाह जफर के पुत्रों और पौत्रों के सिर काटकर बूढ़े पिता को भेंट किए गए। बहादुरशाह जफर को वर्मा में निर्वासित कर दिया गया। वहीं उपेक्षापूर्ण जीवन जीने के बाद उन्होंने अंतिम सांस ली। प्रसिद्ध साहित्यकार बालकृष्ण भट्ट ने लिखा है कि उस समय इलाहाबाद चौक पर सात नीम के वृक्ष थे। अत्याचारी जनरल नील ने इन नीम के पेड़ों की डालियों पर फांसी का फंदा लगाकर चार दिन में एक हजार लोगों को मार डाला।

उसी समय अहियापुर मुहल्ले में रहने वाला एक अधेर व्यक्ति फांसी कैसे दी जाती है, इसे देखने के लिए चौक पर पहुंचा, फांसी स्थल से वह काफी दूर ही खड़ा था। जो अंग्रेज फांसी दिलवा रहा था, उसने इस अधेर को पकड़ लिया और पूछा, तुम यहां क्यों खड़े हो? उसने उत्तर दिया 'सुना था यहां फांसियां लग रही हैं।' इसलिए केवल देखने आया था। अंग्रेज साहब ने अपने आदमी को आदेश दिया– 'इसे भी फांसी पर लटका दो।' तुरंत वह निर्दोष और चकित व्यक्ति मौत के हवाले कर दिया गया।

रामरखी की पातिव्रत्य साधना

स्वतंत्रता सेनानी भाई बालमुकुन्द ने 23 दिसम्बर, 1912 को दिल्ली में लार्ड हार्डिंग पर बम फेंका। हालांकि इस बम कांड में वायसराय बच गए थे, लेकिन राजधानी में बम फेंके जाने की घटना ने अंग्रेजी शासन को झकझोर दिया था। बालमुकुन्द को जेल भेज दिया गया। भाई बालमुकुन्द की धर्मपत्नी श्रीमती रामरखी परम पतिव्रता नारी थीं। एक दिन वे जेल में अपने पति से मुलाकात करने गईं। मुलाकात के समय पूछा– आपको खाना कैसा मिलता है? 'मिट्टी मिली रोटी', भाई बालमुकुन्द ने हंसते हुए जवाब दिया।

रामरखी घर लौटी और आटे में मिट्टी मिला कर खाने लगीं। अगली मुलाकात के लिए जब गईं तो पति से पूछा– 'सोते कहां हो?।' 'अंधेरी कोठरी में दो कम्बलों पर।' भाई जी ने जवाब दिया। उसके बाद रामरखी दो कम्बल बिछाकर सोने लगीं।

जिस दिन बालमुकुन्द जी की फांसी हुई, रामरखी ने स्नान कर अपना शृंगार किया और एक चबूतरे पर आसन लगाकर बैठ गईं। चेहरे पर किसी प्रकार की उद्विग्नता नहीं थी। वे परम शांत भाव से समर्पित योगी की भांति बैठी रहीं और बैठे ही बैठे अपने पति की मुक्त आत्मा में विलीन हो गईं। दोनों एक साथ अग्नि देवता को समर्पित किए गए। भाई बालमुकुन्द आर्यसमाजी परमानन्द के भाई थे। 8 मई, 1915 को दिल्ली षड्यंत्र केस के तहत बालमुकुन्द के साथ अवध बिहारी, अमीर चन्द तथा वसंत कुमार विश्वास को भी फांसी पर लटका दिया गया।

सुखदेव नाम जो मिट कर भी न मिटा

महान क्रांतिकारी सुखदेव बचपन से ही धीर-वीर और गंभीर थे। सुखदेव का यह रूप अपने भीतर एक भयानक क्रांतिकारी का व्यक्तित्व छिपाये हुए था। वह सिर से पैर तक क्रांतिकारी थे। खामोश इतने कि वह मुंह सीकर बैठे रहते और हंसोड़ इतने कि हंसते-हंसते लोट-पोट हो जाएं। उनके बचपन की एक घटना है। उनके पिता ने उनके हाथ पर 'सुखदेव' गुदवा दिया था।

जब वे स्वतंत्रता आंदोलन में कूद पड़े तो उन्हें यह चिंता सताने लगी कि इस नाम से तो उन्हें पुलिस पहचान सकती है। हाथ पर गुदा हुआ नाम तो किसी रबड़ से मिटने वाला था नहीं। उन्हें एक तरकीब सूझी। चुपचाप अपने हाथ के निशान पर तेजाब उड़ेल दिया। खाल जल गई और गहरे घाव हो गए। दर्द भी हुआ, पर सुखदेव के मुंह से आह तक नहीं निकली। दूसरे दिन साथियों ने पट्टी खोली तो देखकर सब आश्चर्यचकित हुए। पूछने पर बताया कि वह अपनी सहनशक्ति की परीक्षा ले रहे थे। कुछ दिनों बाद उनका घाव भरा और नाम तो अपने हाथ से मिट ही गया, पर दुनिया की जुबान पर छा गया।

जासूस गतिविधियों पर नजर रखने के लिए उनके घरेलू नौकर के पद पर बहाल हो गया। महरूल हक उसके काम से खुश थे। पटना में बिजली नहीं थी, हाथ से खींचे जाने वाले पंखों से हवा पैदा की जाती थी। जब भी वह मित्रों के साथ बैठकें, कमरें अथवा बरामदे में करते, नौकर अपने आप पंखा खींचने लगता और उसे बड़ी लगन के साथ खींचता रहता जब तक कि वह चले न जाते। स्वभावतः मजरूल हक का वह प्रियपात्र बन गया। तभी उन्हें विश्वस्त सूत्रों से पता चला कि वह पुलिस का आदमी है।

मजरूल हक के बेंत की चोट

बिहार में 1920 के असहयोग आंदोलन के सेनानी मजरूल हक थे। उन्हीं के मकान सदाकत आश्रम में कांग्रेस का मुख्यालय बना। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने इसे ही अपना निवास बनाया था।

एक बार की बात है कि अंग्रेजों का जासूस उनकी गतिविधियों पर नजर रखने के लिए उनके घरेलू नौकर के पद पर बहाल हो गया। महरूल हक उसके काम से इतने खुश थे कि उसके वेतन में उन्होंने बार-बार इजाफा किया। उन दिनों पटना में बिजली नहीं थी, हाथ से खींचे जाने वाले पंखों से हवा पैदा की जाती थी। जब भी वह मित्रों के साथ बैठकें, कमरें अथवा बरामदे में करते, नौकर अपने आप पंखा खींचने लगता और उसे बड़ी लगन के साथ खींचता रहता जब तक कि वह चले न जाते। स्वभावतः मजरूल हक का वह प्रियपात्र बन गया। तभी उन्हें विश्वस्त सूत्रों से पता चला कि वह खुफिया पुलिस का एक आदमी है। मौलाना ने उसे सबक सिखाने को सोचा और एक दिन जब वह पंखा खींच रहा था तब वह अचानक उठे और हाथ में बेंत लेकर उसकी पीठ पर तड़ातड़ मारना शुरू किया। वह जान बचाकर भाग गया, लेकिन उसे अस्पताल में भर्ती होना पड़ा।

शिक्षण व्यवसाय नहीं, सृजन का समाहार है!

जब से नए रंग-ढंग में 'दिवस' मनाने की परम्परा बढ़ी है, तब से नित्य नये 'मनाये जाने योग्य' दिवसों की बाढ़ आ गई है। हालत ऐसी हो गई है किस तिथि को कौन-सा महत्त्वपूर्ण दिवस है, नाम का ध्यान रखना मुश्किल है। यहाँ जिन दिवसों की बात की जा रही है, वे दिन या वार नहीं हैं, अपितु विश्व समाज द्वारा निर्धारित किए गए विषयानुसार तिथि दिवस हैं। इसका प्रभाव यह भी है कि परम्परागत रूप से मनाए जाने वाले व्रत, त्योहार, जयंतियाँ, मुहूर्त्त, लगन जो जलवायु और मौसम के अनुसार निर्धारित रहे हैं और जिनका पौराणिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक और भौगोलिक महत्त्व रहा है, वे विस्मृत होते आ रहे हैं। आज कल मदनोत्सव कब है, 'किसी' को पता नहीं होता, लेकिन 14 पफरवरी का वेलेन्टाइन डे की तैयारी और उसके विरोध के तरीके बहुत पहले ईजाद कर लिए जाते हैं। सकारात्मक और नकारात्मक दोनों रूपों में यह पहले से दिखने लगता है। जिन बातों का हमारे दैनन्दिन के जीवन कार्य में हर वक्त एहसास होना चाहिए, वे अब रस्मी तौर पर साल में एक दिन मनाए जाते हैं, क्योंकि बाकी दिन वे जीवन से गायब हो रहे हैं या हो गए हैं। कुछ भी हो, यदि तिथियों का आवंटन या एलॉटमेन्ट तथाकथित महत्त्वपूर्ण विषयानुरूप दिवसों के लिए इसी प्रकार धड़ल्ले से जारी रहा तो साल के 365 दिन कम पड़ेंगे। वैसे तो वैश्विक धरातल पर देखा जाए तो अभी भी हर तिथि को किसी न किसी महापुरुष की जन्म और महत्त्वपूर्ण घटनाक्रम हुआ है और एक दिन में कई-कई।

हर साल 5 सितंबर को मनाए जाने वाले 'शिक्षक दिवस' को लें, तो बात दूसरी होगी। शिक्षक दिवस अधिकतर देशों में भिन्न-भिन्न तिथियों को मनाए जाते हैं, लेकिन भारत में महान शिक्षाविद् व दार्शनिक सर्वपल्ली राधाकृष्णन की जन्मतिथि को शिक्षक दिवस के रूप में मनाया जाता है। यद्यपि इसकी शुरूआत तब हुई, जब डा. राधाकृष्णन से उनके मित्रों और छात्रों ने उनके जन्मदिवस को मनाने की अनुमति माँगी, तब उन्होंने इसे शिक्षक दिवस के रूप में अपनाने की अनुमति दी। यह 5 सितंबर, 1962 ई. बात की है। तब से यह शिक्षक दिवस के रूप में मनाया जाता है। यद्यपि इसकी परम्परा का आरंभ एक व्यक्ति-विशेष के जन्मदिन मनाने को लेकर हुई, तथापि आज भारत का शिक्षक वर्ग सामुदायिक-सामूहिक रूप में इससे अपने को अभिन्न रूप में जुड़ा महसूस करता है। शिक्षक चाहे प्राथमिक विद्यालय का हो या महाविद्यालय-विश्वविद्यालय का, सबके लिए यह दिन 'अपना दिन' होता है। इतना ही नहीं, छात्रगण और अभिभावकों के लिए शिक्षक दिवस विशेष महत्त्व रखता है।

अब यह व्यक्ति-विशेष का जन्म दिन कम लगता है। छात्रों, शिक्षकों, अभिभावकों के लिए सामूहिक रूप से आत्म-प्रेरक दिवस अधिक। यह उस महान् दार्शनिक विचारक का जन्म दिवस है जो अपने ज्ञान का लोहा मनवाकर शीर्ष पद तक पहुँचा। डा. राधाकृष्णन ने धर्म, दर्शन, साहित्य पर चालीस से अधिक पुस्तकें लिखीं, जो आज भी भारतीय साहित्य संपदा का श्रेष्ठ अंग है। उन्होंने जहाँ शिक्षा के क्षेत्र में कुशल प्राध्यापक व उपकुलपति जैसे पदों का बखूबी निर्वाह किया, वहीं वे भारत के पहले उपराष्ट्रपति और दूसरे राष्ट्रपति भी बने। वे भारत गणराज्य के सर्वोच्च पद पर पहुँच सके, तभी उनके जन्मदिन मनाने की परंपरा शुरू हुई। वे राष्ट्रपति न बने होते और कितने ही अच्छे शिक्षक होते तो शायद उनका जन्मदिवस

हमें याद भी नहीं रहता। यह उनका बड़प्पन था कि राष्ट्रपति पद पर पहुँचते पर भी उन्होंने अपने जन्म दिन को न तो नितांत स्वकेन्द्रित बनाकर रखा, जैसा कि आजकल कुछ नेताओं द्वारा किया जाता है और वह भी ऐसे नेताओं द्वारा जो जनता द्वारा सीधे चुने जाते हैं। आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्था में यह खतरनाक प्रवृत्ति पनपी है। राधाकृष्णन ने इसे नितांत राजनीतिक 'राजनेता दिवस', 'राष्ट्रपति दिवस' के रूप से दूर रखकर शिक्षक दिवस के रूप में मनाने का सूत्रपात कराया, वह दूरदर्शी कदम था, तभी यह लाखों लोगों को प्रेरणा प्रदान करता है।

राधाकृष्णन वस्तुतः भारत की ही नहीं, विश्व की उस महान परंपरा को जानते थे, जहाँ ज्ञान-शिक्षा-विद्या देने वाले आचार्य, गुरु या शिक्षक का स्थान सर्वोच्च पदधारियों से भी श्रेष्ठ समझा जाता था। राधाकृष्णन ने प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक सुकरात की तरह आचार्य उसे माना है जिसका आचरण उसके ज्ञान के अनुरूप हो और उसी कारण विद्धार्थी में नई ऊर्जा का संचार हो सके। उनकी मान्यता थी कि देश की मजबूती के लिए उसके शिक्षकों का मन, मस्तिष्क उन्नत और सशक्त होना चाहिए। आचार्य रजनीश जो खुद दर्शनशास्त्र के प्रसिद्ध प्राध्यापक थे, उन्होंने स्पष्ट कहा है कि एक शिक्षक का सम्मान शिक्षक होने में है। एक अच्छा शिक्षक राष्ट्रपति हो जाता है तो यह शिक्षक का असम्मान है, सम्मान नहीं है। यह तो समझ में आ सकता है कि एक राष्ट्रपति अपना पद छोड़ दे और शिक्षक हो जाए। यह समझ से परे है कि एक शिक्षक अपना पद छोड़ दे और राष्ट्रपति हो जाए। यह समझ में आने वाली बात नहीं है। शिक्षक और राजनीति में क्या मुकाबला? एक शिक्षक का पतन है यह कि वह राजनीतिज्ञ हो जाए। एक राजनीतिज्ञ का विकास होगा यह कि वह शिक्षक हो जाए। शिक्षण एक सरलतम वृत्ति है, कोई व्यवसाय नहीं है, बल्कि एक आनन्द है, एक सेवा है, एक सृजन है, एक साधना है। इसी कारण ए.पी.जे. अब्दुल कलाम से राष्ट्रपति पद पर रहते हुए जब पूछा गया कि सेवा-निवृत्ति के बाद क्या करेंगे तो उन्होंने गर्व के साथ कहा कि मैं प्राध्यापक के रूप में अध्यापन करूँगा।

राष्ट्रपति पद पर रहा व्यक्ति किसी और पद की लालसा व्यक्त कर तो राष्ट्रपति पद की गरिमा तो गिरेगी ही, उसकी पदलिप्सा भी झलकेगी। लेकिन उसी पद वाले को शिक्षक होने में गरिमा मिलती है, प्रॉटोकॉल का उल्लंघन नहीं दिखता।यहाँ पुनः आचार्य रजनीश के शब्दों में कह सकते हैं कि शिक्षक को चेतनासंपन्न होना चाहिए और इस रूप में विद्रोही भी। जिस दिन शिक्षक विद्रोही होगा, उस दिन दुनिया में हर रोज नया समाज पैदा होगा।

राष्ट्रपति जैसे सर्वोच्च पद पर रहा व्यक्ति किसी और पद की लालसा व्यक्त कर तो राष्ट्रपति पद की गरिमा तो गिरेगी ही, उसकी पदलिप्सा भी झलकेगी। लेकिन उसी पद वाले को शिक्षक होने में गरिमा मिलती है, प्रॉटोकॉल का उल्लंघन नहीं दिखता। दूसरी ओर, शिक्षक को किसी और पद की लालसा नहीं रखनी चाहिए, अन्यथा वह अपने शिक्षकीय धर्म का ठीक ढंग से पालन नहीं कर पाएगा। इस अर्थ में जहाँ लोग पद और पैसे के पीछे 'पागल' हैं, 'कुछ भी' करने को तैयार हैं, पदन्यन मोह से परे शिक्षक को दुनियादारी न समझने वाला ही कहेंगे, लेकिन शिक्षक को इसकी चिन्ता नहीं करनी है, उसे तो बस यही कहना है कि 'हमें पागल ही रहने दो, हम पागल ही अच्छे हैं।' यहाँ पुनः आचार्य रजनीश के शब्दों में कह सकते हैं कि शिक्षक को चेतनासंपन्न होना चाहिए और इस रूप में विद्रोही भी। जिस दिन शिक्षक विद्रोही होगा, उस दिन दुनिया में हर रोज नया समाज पैदा होगा। जो शिक्षक विद्रोही नहीं है, उसने शिक्षक होने का अधिकार खो दिया है। विद्रोही हुए बिना ज्ञान की दिशा में आँखें खुलती ही नहीं हैं। पफलतः जब अपना ही ज्ञान-चक्षु बंद होगा, तो दुनिया की आँखें कैसे खोलेंगे?

मुक्ति आंदोलन की शृंखलाएँ

सन् 1963 ई. में अमेरिकी लेखिका बेट्टी फ्राइडन की पुस्तक 'द फेमनिन मिस्टिक' के प्रकाशन के साथ ही पूरे पश्चिमी जगत में तहलका मच गया। इस पुस्तक में फ्राइडन ने अब तक के स्त्रियों के छुपे रहे असंतोष को शब्दबद्ध किया, जिसके कारण नारी समाज में इस पुस्तक का काफी वर्चस्व बना रहा। इस पुस्तक के द्वारा स्त्री जागृति आई, 'विमेन लिब' नाम से पहचाने जाने वाली प्रवृत्ति सामने आई। बाद में पश्चिमी समाज की पृष्ठभूमि और आंदोलनकारियों के अति उत्साह के कारण इसका मूल उद्देश्य गौण हो गया और तरह-तरह के अतिवादी विचार-व्यवहार सामने आने लगे। इसके अतिवादी विचारों की ओर जाने से पूर्व इस आंदोलन के मूल उद्देश्य पर ध्यान देना आवश्यक है जो अमृता प्रीतम के अनुसार इस प्रकार है- (क) औरत के अपने अस्तित्व के संबंध में चेतना जगाना (ख) लड़कियों का अधिकार लड़कों के बराबर होना (ग) बच्चों के लिए सँभाल-गृहों की माँग (घ) गर्भपात से संबंद्ध कानून : शरीर औरतों का है, उन्हें ही इस पर अधिकार हो, सरकार का अधिकार न हो (ङ) औरत के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण में बदलाव की आवश्यकता। स्त्रियों द्वारा शुरू किए गए आंदोलन के कारण अनेक नारीवादी संगठनों का उदय व प्रचार-प्रसार होने लगा। इस आंदोलन की अग्रणी संस्था 'नेशनल आर्गनाइजेशन ऑफ विमेन' (नाऊ) थी, जिसकी स्थापना बेट्टी फ्राइडन ने सन् 1966 ई. में की थी और वही इसकी संस्थापक अध्यक्ष भी थीं। इस संस्था को आज भी सबसे बड़ा नारीवादी संगठन माना जाता है। हालाँकि बाद के नारीवादी आंदोलनों में आई उग्रता के कारण फ्राइडन ने अपने को इस संस्था से अलग कर लिया और अगस्त सन् 1978 ई. में एक अमेरिकी पत्रिका में लेख लिखकर पूरे महिला आंदोलन पर पुनर्विचार की माँग उठायी। सन् 1981 ई. में प्रकाशित 'द सेकेंड स्टेज' में आंदोलन के उग्रवाद से इनका विलगाव प्रकट होता है। इन्हें उदार नारीवादी माना जाता है।

आंदोलन के प्रमुख घटना-क्रम

26 अगस्त, सन् 1970 ई. का दिन नारी मुक्ति आंदोलन में काफी चर्चित व महत्त्वपूर्ण दिन है। चूँकि इसी दिन अमेरिकी महिलाओं को मताधिकार मिलने की पचासवीं वर्षगाँठ पड़ती थी, अतः ''न्यूयार्क, फिलाडेल्फिया, वाशिंगटन, बोस्टन, पिट्सवर्ग, लास एंजिल्स की सड़कों पर स्त्रियों के जुलूसों, बड़ी-बड़ी तख्तियाँ हाथों में लिए प्रदर्शनों, भीड़ और भगदड़ का नजारा देखने लायक था। विवाहित-अविवाहित, बच्चों वाली, बिना-बच्चों वाली, तरह-तरह की पोशाकों, केश सज्जा शैलियों से सजी 16 वर्ष से 80 वर्ष तक की उम्र की महिलाएँ नारे लगा रही थीं- हमें आजाद करो, हमारे साथ द्वितीय श्रेणी के नागरिकों का व्यवहार बंद करो। पुरुषों के बराबर नौकरियाँ और समान काम के लिए समान वेतन दो। हम अपने शरीर पर अपना अधिकार चाहती हैं। माँ बनने या न बनने, गर्भ रखने या गर्भपात कराने की हमें स्वतंत्रता होनी चाहिए। सड़कों से ऐसे नाम हटा दो, जिनमें पुरुषों के साहस के चर्चे हों। इतिहास से ऐसे नाम मिटा दो, जिनमें केवल पुरुषों का ही बोलबाला हो। लैंगिक भेदभाव बंद करो। स्वाधीनता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है आदि। इसके साथ ही महिलाओं ने प्रसाधन सामग्री से रद्दी टोरियाँ भर दीं। भीतरी वस्त्रों की होलियाँ जलाईं। यह इस बात की प्रतीक थी कि पुरुषों ने स्त्रियों पर कामुकता थोपी है और अब वे पुरुषों के लिए सजने-सँवरने से इनकार करती हैं।'' इस पूरे घटना-क्रम से आंदोलन का अतिवाद झलकता

है तथा ब्रा जलाने की घटना इस पूरे आंदोलन की विकृत मानसिकता को ही द्योतित करती है; हालाँकि इस ब्रा जलाने वाली बात को भिन्न-भिन्न तरह से उचित ठहराने का प्रयास होता रहा है तथा इसके सांकेतिक अर्थ को खोजने का आग्रह भी किया जाता है। यह बताया जाता है कि ब्रा जलाने का निहितार्थ यही है कि स्त्रियाँ 'सेक्स अब्जेक्ट' नहीं हैं, वे पुरुषों के मन बहलाने का साधन नहीं हैं। अपने विचारों-व्यवहारों के कारण चर्चित रहीं बंगलादेश की लेखिका स्पष्ट है कि नसरीन ने भी अंतर्वस्त्र जलाने को सचेत मानसिकता की उपज बताया है। इसे स्त्री स्वतंत्रता का प्रतीक घोषित किया है। 30 अगस्त, 1999 ई. को दिल्ली से निकलने वाले दैनिक समाचार पत्र 'जनसत्ता' ने एक खबर छापी, जिसमें पहले से ठीक विपरीत अब ब्रा दिखाकर अमेरिकी महिलाओं द्वारा आजादी की अभिव्यक्ति पर रोचक टिप्पणी की गई है। खबर में कहा गया कि कभी अमेरिकी महिलाओं ने अपना ब्रा जलाकर आजादी का प्रदर्शन किया था। लेकिन उन महिलाओं की दूसरी पीढ़ी ने अब अपनी आजादी जताने का दूसरा तरीका निकाला है। आज की अमेरिकी युवतियाँ अपने ब्रा को दिखाकर आजादी का प्रदर्शन कर रही हैं। कुछ पर्यवेक्षकों ने इसे नई तरह की फैशन लहर कहा है। इसका अलग तरह का प्रदर्शन पिछले महीने तब दिखाई पड़ा जब अमेरिकी महिलाओं की फुटबॉल टीम ने विश्व कप जीता। चीन के खिलाफ फाइनल मैच पेनाल्टी गोल करने के बाद अमेरिकी डिफेन्डर ब्रैंडी ने चर्चित पुरुष खिलाड़ियों का उपहास उड़ाते हुए यह प्रदर्शन किया। खचाखच भरे स्टेडियम और टेलीविजन पर लाखों लोग इस मैच को देख रहे थे। उसी दौरान ब्रैंडी ने अपनी खिलाड़ियों वाली शर्ट फाड़ते हुए अपने काले ब्रा के पूरे सौंदर्य को प्रदर्शित कर दिया। अमेरिका के अखबारों और पत्रिकाओं ने इस प्रदर्शन का आवरण चित्र बनाया। इस घटना के साथ ही मीडिया में अधोवस्त्र के प्रदर्शन पर व्यापक बहस शुरू हो गई है। इसे नए रूप में प्रदर्शित करने पर चर्चा-परिचर्चा आरंभ हो गई है।

जाहिर है कि आरंभ में इस आंदोलन की प्रतिक्रिया एकदम अतिवादी छोर तक चली गई और स्त्रियों ने पुरुषों के साथ जीने, पति-कुटुम्ब, बच्चे, विवाह आदि से मुक्त होने का लक्ष्य प्रस्तुत किया। इसी उद्देश्य से 'सोसाइटी फार कटिंग ऑफ मेन' यानी पुरुषों का कद छोटा करने वाले संगठन की स्थापना सन् 1968 ई. में की गई, जिसकी संस्थापक और सिद्धांतकार वेलरी सोलोनस थीं। आंदोलन की उग्रता में महिलाओं से सिर्फ लड़कियाँ पैदा करने का आह्वान किया गया। आंदोलन के जोश में स्त्रियों ने केट मिलेट को नारी मुक्ति आंदोलन की माओत्से तुंग कहा, तो पुरुषों ने उन्हें 'पुरुषों को बधिया करने वाली' की संज्ञा दी। इसके अलावा पति द्वारा प्रपीड़ित बलात्कृताओं के लिए शरणस्थलियों का निर्माण, पुरुषों द्वारा कामकाजी स्त्रियों का यौन शोषण, विज्ञापनों व प्रचार माध्यमों द्वारा नारी-देह के प्रदर्शनों व सौंदर्य प्रतियोगिताओं का बहिष्कार आदि प्रमुख तथ्य इस आंदोलन के प्रेरक रहे हैं। भाषिक व शाब्दिक स्तर पर भी मैन, मैनकाइंड, चेयरमैन जैसे स्त्रियों की अनदेखी करने वाले शब्दों पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता पर जोर दिया गया। लिंग के आधार पर भेदभाव समाप्त करने के लिए उन्होंने माँग की कि 'मिसेज' और 'मिस' के बदले 'मिज' कहा जाए ताकि उनके वैवाहिक स्तर से उनके व्यक्तित्व को न जोड़ा जाए। चेयरमैन और हिस्ट्री जैसे शब्दों को 'चेयरपर्सन' और 'हरस्टोरी' में बदलने की माँग की गई। समान काम के लिए समान सम्मान मिलनी चाहिए। केवल मर्दों वाले कामों और जगहों को भी स्त्रियों के लिए खोलने को कहा गया। स्त्री उग्रता को बढ़ाने में केट मिलेट की 'सेक्सुअल पॉलिटिक्स' और जर्मन ग्रीअर की 'फीमेल यूनिक' जैसी पुस्तकों का भी योगदान था। इसमें मुक्त यौन संबंधों तथा समलैंगिकता की वकालत की गई थी। इसके

अतिरिक्त महिलाओं की इच्छा के विरुद्ध शरीर को न छूने देने का संकल्प प्रस्तुत किया गया, भले ही छूने वाला उसका पति ही क्यों न हो। ऐसी स्थिति में विद्वानों का इस आंदोलन के अतिरेक के प्रति सचेत होना स्वाभाविक ही था। इस सिलसिले में मार्गरेड मीड और नार्मन मेलर का नाम लिया जा सकता है, जिन्होंने इसके अतिवाद से सावधान किया। फिर उग्र नारीवादियों और आंदोलनविरोधी लोगों में टकराव बढ़ा, एक-दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप लगने लगे। ऐसे में नार्मन मेलर ने केट मिलेट और जर्मन ग्रीअर को न्यूयार्क के टाउन हॉल में शास्त्रार्थ करने की चुनौती दी। केट मिलेट ने आमंत्रण अस्वीकार कर दिया। जर्मन ग्रीअर ने जवाब देने के लिए जमकर तैयारी की। लोग उत्सुक थे मेलर और ग्रीअर का वाद-विवाद सुनने के लिए। बढ़ी दर के प्रवेश टिकटों पर भी उस शाम न्यूयार्क टाउन हॉल में दर्शकों की भारी भीड़ जुटी। लोगों को लग रहा था, आज कुछ होकर रहेगा। पर उन्हें निराशा ही हाथ लगी। मेलर चुप रहे। उनके इशारे पर एक व्यक्ति ने जर्मन ग्रीअर से कहा, 'आप पुरुषों से बराबरी का दावा करती हैं, अतः यहाँ मेलर पर हावी होकर उनके साथ बलात्कार करिए...। ग्रीअर सुनकर सन्न रह गईं। दूसरे दिन अखबारों में 'वैसा' होने की अटकलें और गप्पें छप गईं। ग्रीअर को बुरा लगा, पर क्या करतीं। इसके बाद भी वह जहाँ जातीं, उनसे बेहूदा सवाल किए जाते और कई बार ग्रीअर पसीने-पसीने हो जातीं। स्पष्ट है कि नारी मुक्ति आंदोलन जो एक बड़े लक्ष्य लेकर शुरू हुआ था, वह निहायत फूहड़पन, सतही प्रदर्शन, आत्मप्रवंचना व प्रतिक्रिया से विचलित हो गया। दिशाहीन होकर भिन्न-भिन्न वादों में बँटकर शाखाओं-उपशाखाओं में विभक्त हो गया। 'सदियों के बंधनों की यह भी एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया ही कही जा सकती है, जिसकी अनेक बातें अव्यावहारिक और अतिरंजना से भरपूर हैं तो कई बातें अच्छी भी हैं। पहली श्रेणी का उदाहरण है सेक्स आक्रमणों में भी पुरुषों की बराबरी करने का दुस्साहस। दूसरी श्रेणी का उदाहरण है नारी के मात्र भोग्या रूप का तगड़ा विरोध।' इस प्रकार हम देखते हैं कि इस आंदोलन के कुछ अच्छे व दीर्घकालिक परिणाम भी रहे हैं और कुछ बुरे भी।

सन् 1998 ई. में सी.एन.एन.ए. द्वारा एक सर्वेक्षण कराया गया, जिसके अनुसार अमेरिका में तब 65 प्रतिशत महिलाएँ अपने को नारीवादी नहीं कहतीं। यह प्रतिशत सन् 1989 ई. के सर्वेक्षण में 58 प्रतिशत था, और आज भी अमेरिका में बहुत सारी महिलाएँ अपने को नारीवादी मान रही हैं, भले ही यह अब आकर्षक आंदोलन नहीं है। फिर भी अमेरिका में कुछ समय से 'जड़ों की ओर लौटने' का आग्रह जारी है। 60-70 के दशक का उग्र और पुरुष विरोधी नारीवादी घर-वापसी की पक्षधर हैं। उनका कहना है कि घर से बाहर निकल कर काम करने की जोखिम उठाने के बावजूद उन्हें मुक्ति नहीं मिली और दूसरी ओर उन्हें मातृत्व जैसे सहज स्त्री सुखों से वंचित होना पड़ा है। औरत की स्थिति की बेहतरी के लिए शुरू हुई यह लड़ाई उसे एक प्रति पुरुष बनाने की राह पर ले गई। घर से बाहर भी पुरुषों का वर्चस्ववादी ढाँचा इतना कठोर था कि उसने औरत को बराबर नहीं माना। इससे सबक लेते हुए यह जरूरी है कि स्त्री के विकास की लड़ाई को सामाजिक सरोकारों से जोड़ा जाए।' यही कारण है कि अमेरिका सहित तमाम पश्चिमी देशों में अब 'परिवार वर्ष' मनाया जाने लगा है।

इस आंदोलन की सफलताओं, असफलताओं पर परस्पर-विरोधी तर्क हैं तथा विद्वानों में इसे लेकर पर्याप्त मतभेद हैं। कुछ के लिए यह नारी की नवीन चेतना का वाहक है तो कुछ औरों के लिए समाज-परिवार को तोड़ने की साजिश। हालाँकि हर आंदोलन की कार्य परिणति में अच्छाइयाँ-बुराइयाँ आती रहती हैं, और यह विस्तार के साथ स्वाभाविक होता है। 70 के दशक में नारीवादियों को जोर देकर कहना पड़ता था कि हम नारीवादी हैं, वे अब सहजता से उपलब्ध हैं।